बिखरे मोती

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल
के
विविध संदर्भों में लिखे गए लेखों का संग्रह

सम्पादक :
ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रथम संस्करण : ५ हजार
दिनांक : २५ मई, १९९९ ई.

द्वितीय संस्करण : ३ हजार
(२६ जनवरी, २००१)

मूल्य : **सोलह रुपये मात्र**

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.,
एम. आई. रोड, जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल इस शताब्दी के जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वानों में अग्रगण्य हैं। उनकी प्रवचनशैली जहाँ समाज को मंत्रमुग्ध कर देती है, वहीं उनकी लेखनी से प्रसूत अध्यात्म का भण्डार जनमानस को ज्ञानसागर में गोते लगाने का प्रभावी साधन बन गया है। प्रस्तुत प्रकाशन उनके यत्र-तत्र प्रकाशित निबन्धों का संकलन है, जो 'बिखरे मोती' के रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

'बिखरे मोती' नामक इस कृति में प्रकाशित निबन्धों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम भाग में व्यक्ति विशेष को केन्द्रित कर लिखे गए लेख हैं। दूसरे भाग में सम-सामयिक विषयों पर आधारित लेख हैं। तीसरे भाग में सैद्धान्तिक विषयों पर लिखे गए लेख समाहित हैं।

डॉ. भारिल्ल का सम्पूर्ण साहित्य विविध विधाओं पर केन्द्रित है। गद्य और पद्य पर उनका समान अधिकार है। एक ओर वे सफल कहानीकार हैं तो दूसरी ओर वे पत्रकारिता के क्षेत्र में भी पूरा दखल रखते हैं।

इस संग्रह में उनके कई लेख विवेकी के नाम से लिखे गए लेख हैं, जो कभी जैनपथ प्रदर्शक में 'दूध का दूध पानी का पानी' नामक स्तम्भ की शोभा बढ़ाते थे।

यत्र-तत्र बिखरे इन मोतियों को चुन-चुनकर माला के रूप में पिरोने का श्रेय ब्र. यशपालजी को जाता है। उनके द्वारा गूंथी गई यह मणिमाला आप सबको नई दिशा प्रदान करेगी - ऐसी आशा है। इस महान कार्य के लिए ब्र. यशपालजी बधाई के पात्र हैं। इसके प्रकाशन का दायित्व विभाग के प्रभारी अखिल बंसल ने सम्हाला है, अत: ट्रस्ट उनका आभारी है। जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने हेतु अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, वे महानुभाव भी धन्यवाद के पात्र हैं। सभी आत्मार्थी इस बिखरे मोती कृति से लाभान्वित हों, इसी भावना के साथ।

— नेमीचन्द पाटनी

महावीर वन्दना

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं॥
जो तरण-तारण भव-निवारण, भव-जलधि के तीर हैं।
वे वन्दनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपत् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वन्दना शत बार है॥

जिनके विमल उपदेश में, सब के उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्त्ता न धर्त्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥

आतम बने परमात्मा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना-सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

सम्पादकीय

सर्वोदय स्वाध्याय समिति बेलगांव (कर्नाटक) ने जब डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया, तब समयसारादि समग्र कुन्दकुन्द साहित्य का कन्नड भाषा में अनुवाद करने वाले पण्डित श्री एम.बी. पाटील (शेडबाल) बेलगांव ने मुझे अपना निम्न प्रकार विचार बताया था, जिसका मैंने तत्काल समर्थन भी किया था।

डॉ. भारिल्ल के फुटकर रीति से लिखित साहित्य को भी अभिनंदन समारोह के निमित्त से पुस्तकरूप से प्रकाशित करना चाहिए।

उपर्युक्त निर्णयानुसार मैंने डॉ. भारिल्ल के लेख खोजना प्रारम्भ किया। शोध-खोज के बाद यह बात स्पष्ट हुई कि बहुतांश लेख धर्म के दशलक्षण, बारह भावना इत्यादि तो पुस्तकरूप से प्रकाशित हो ही चुके हैं। और विशेष तलाश करने के बाद पता चला कि जब जैनपथ प्रदर्शक पाक्षिक विदिशा से निकलता था, तब **'दूध का दूध और पानी का पानी'** शीर्षक के अन्तर्गत **विवेकी** के नाम पर लिखे गये सर्व लेख भी डॉक्टर भारिल्ल के ही हैं। अत: इसमें उन लेखों का भी संग्रह किया।

आचार्य कुन्दकुन्द, पण्डित बनारसीदास आदि विशेषांकों में लिखे गये उनके लेख हैं। सर्वश्री रामजीभाई, खेमचंदभाई, बाबूभाई, पूरणचंदजी गोदीका आदि पर भी आपने कलम चलाई है।

आध्यात्मिक संत गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के स्वर्गारोहण के निमित्त से अनेक लेख लिखे गये हैं। सोनगढ़-जयपुर से प्रकाशित साहित्य को मंदिर में रखना या नहीं रखना - इस विषय को लेकर भी आपने अनेक लेख लिखें हैं, जिनमें डॉक्टर भारिल्ल की विशिष्ट रीति-नीति स्पष्ट हुई है।

इन सबका संग्रह करना प्रारंभ किया तो मुझे आश्चर्य हुआ कि कुल मिलाकर ४१ लेख इकट्ठे हो गये। लगता है खोजबीन करने पर अभी और

भी लेख प्राप्त हो सकते हैं। **इन यत्र-तत्र बिखरे लेखों के संग्रह का नाम ही बिखरे मोती हैं।**

'बिखरे मोती' पुस्तक के तीन खण्ड हैं। **प्रथम खण्ड** में आचार्य कुन्दकुन्दादि महानुभावों से संबंधित लेख हैं, जिसका नाम हमने **'जिन्हें भूलना संभव नहीं'**, यह दिया है।

द्वितीय खण्ड सामाजिक है। इसमें आपतकालीन प्रसंगों पर लेखक ने समाज को यथोचित मार्गदर्शन दिया है। मैं यह अपेक्षा रखता हूँ - कोई भी जैन या जैनेतर भाई सामाजिक खण्ड को मनोयोगपूर्वक पढ़ेगा तो उसका दिल व दिमाग अत्यन्त संतुलित हुए बिना नहीं रहेगा। इस खण्ड में व्यक्त रीति-नीति से प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन सुखी एवं समाधानी हुए बिना नहीं रहेगा।

जिसका जीवन आध्यात्मिक विचारों से सराबोर रहता है, उनका सामाजिक जीवन कितना सहज व शांतिमय बन जाता है; इसका यह विभाग उदाहरण है। **मैं तो साधर्मियों से यह अपील करना चाहता हूँ कि वे अपने साधर्मी मित्रों को प्रेम एवं सहजता अथवा हठपूर्वक भी इस सामाजिक विभाग को जरूर पढ़ने के लिए बाध्य करें, उसका फल मधुर ही मिलेगा।**

तृतीय खण्ड सैद्धान्तिक है, यथानाम इसमें जो लेख हैं, वे अनेक वर्ष पूर्व लिखे गये हैं। वे लेख तो छह ही इसमें हैं; किन्तु उनमें व्यक्त विचारधारा एवं कथन पद्धति और लेखक की वर्तमान कालीन साहित्य सृजन में एकरूपता देखकर लेखक के तात्त्विक निर्णय की एकरूपता की झलक स्पष्ट हो जाती है।

पाठक इस लेख संग्रह - **बिखरे मोती** का अपने जीवन में उपयोग करेंगे ही, यह मुझे मात्र आशा ही नहीं, विश्वास है। पाठक अपना अभिप्राय मुझे लिखकर जानकारी देंगे तो उनकी जागरूकता का भी मुझे निर्णय होगा, आनन्द होगा। कुछ सुझाव हों तो वे भी लिखने का कष्ट करें।

- ब्र. यशपाल जैन

प्रथम खण्ड

जिन्हें भूलना संभव नहीं

१.	आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे या नहीं?	१
२.	जिन-अध्यात्म के सशक्त प्रतिपादक : आचार्य अमृतचन्द्र	७
३.	कविवर पण्डित बनारसीदास	१२
४.	आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में कानजी स्वामी का योगदान	२३
५.	श्री कान गुरु जाते रहे?	३०
६.	हा गुरुदेव अब कौन.....?	३१
७.	सूरज डूब गया	३५
८.	अब क्या होगा?	३९
९.	निराश होने की आवश्यकता नहीं	४३
१०.	आत्मधर्म के आद्य सम्पादक : रामजीभाई	४५
११.	श्री खीमचन्दभाई : एक असाधारण व्यक्तित्व	५२
१२.	अजातशत्रु : पण्डित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता	५५
१३.	सरस्वती के वरद पुत्र : सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द शास्त्री	६१
१४.	ब्र. पण्डित माणिकचन्दजी चवरें	६३
१५.	श्री पूरणचन्दजी गोदीका : एक अनोखा व्यक्तित्व	६४
१६.	लौहपुरुष : श्री नेमीचन्दजी पाटनी	७१
१७.	एक इन्टरव्यू : खनियाँ तत्त्वचर्चा : श्री नेमीचन्दजी पाटनी से	८०
१८.	एक इन्टरव्यू : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से	८५

द्वितीय खण्ड
सामाजिक

१.	महासमिति	९२
२.	निर्माण या विध्वंस	९४
३.	यदि जोड़ नहीं सकते तो	९७
४.	और अब पूज्य समन्तभद्र महाराज भी .....!	१०१
५.	स्वयं बहिष्कृत	१०५
६.	जागृत समाज	११०
७.	पण्डित परम्परा का भविष्य : एक सुझाव	११३
८.	एक अत्यन्त आवश्यक स्पष्टीकरण	११७
९.	एक युग, जो बीत गया	१२३
१०.	वीतराग-विज्ञान : एक वर्ष	१२८
११.	जरा मुड़कर देखें	१३४
१२.	सागर प्रशिक्षण शिविर : एक विहंगावलोकन	१४०
१३.	एक ही रास्ता	१४९
१४.	जिनवाणी सुरक्षा एवं सामाजिक एकता आन्दोलन की संक्षिप्त रूपरेखा	१५८
१५.	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	१६८
१६.	आचार्य कुन्दकुन्द और दिगम्बर जैन समाज की एकता	१८३
१७.	जोश एवं होश	१९०

तृतीय खण्ड
सैद्धान्तिक

१.	समयसार का प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु : भगवान आत्मा	१९३
२.	जैनदर्शन का तात्त्विक पक्ष : वस्तुस्वातन्त्र्य	२००
३.	दु:खनिवृत्ति और सुखप्राप्ति का सहज उपाय	२०६
४.	सम्यकत्व और मिथ्यात्व	२१०
५.	विवेके हि न रौद्रता	२१२
६.	जरा गंभीरता से विचार करें	२१७
७.	अयोध्या समस्या पर वार्ता	२१९

प्रथम खण्ड

जिन्हें भूलना संभव नहीं

१

आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे या नहीं ?

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आजतक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते आ रहे हैं।

आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन, भट्टारक श्रुतसागर सूरि आदि दिग्गज आचार्यों एवं अनेकानेक मनीषियों के उल्लेखों, शिलालेखों तथा सहस्राधिक वर्षों से प्रचलित कथाओं के आधार पर यह कहा जाता रहा है कि आचार्य कुन्दकुन्द सदेह विदेह गये थे। उन्होंने तीर्थंकर सीमन्धर अरहंत परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उन्हें सीमन्धर परमात्मा की दिव्यध्वनि साक्षात सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द सदेह विदेह गये थे, उन्होंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था, तो उन्होंने इस घटना का स्वयं उल्लेख क्यों नहीं किया ? यह कोई साधारण बात तो थी नहीं, जिसकी यों ही उपेक्षा कर दी गई।

बात इतनी ही नहीं है, उन्होंने अपने मंगलाचरणों में भी उन्हें विशेषरूप से कहीं स्मरण नहीं किया है। क्या कारण है कि जिन तीर्थंकर अरहंतदेव के

उन्होंने साक्षात् दर्शन किए हों, जिनकी दिव्यध्वनि श्रवण की हो, उन अरहंत पद में विराजमान सीमन्धर परमेष्ठी को वे विशेषरूप से नामोल्लेखपूर्वक स्मरण भी न करें।

इसके भी आगे एक बात और भी है कि उन्होंने स्वयं को भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा से बुद्धिपूर्वक जोड़ा है।

प्रमाणरूप में उनके निम्नांकित कथनों को देखा जा सकता है —

''वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ।[१]

श्रुतकेवलियों द्वारा कहा गया समयसार नामक प्राभृत कहूँगा।

वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदिकेवलीभणिदं ।[२]

केवली तथा श्रुतकेवली के द्वारा कथित नियमसार मैं कहूँगा।

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥[३]

ऋषभदेव आदि तीर्थंकर एवं वर्द्धमान अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार कर यथाक्रम संक्षेप में दर्शनमार्ग को कहूँगा।

वंदित्ता आयरिय कसायमलविज्जिदे सुद्धे।[४]

कषायमल से रहित आचार्यदेव को वंदना करके।

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पावं ।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥[५]

विशाल हैं नयन जिनके एंवं रक्त कमल के समान कोमल हैं चरण जिनके, ऐसे वीर भगवान को मन-वचन-काय से नमस्कार करके शीलगुणों का वर्णन करूँगा।

पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।[६]

धर्मतीर्थ के कर्त्ता भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ।''

---

१. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा-१
२. अष्टपाहु : बोधपाहुड, गाथा-१
३. अष्टपाहुड : शीपाहुड, गाथा-१
४. प्रवचनसार, गाथा-१
५. प्रवचनसार गाथा-३

उक्त मंगलाचरणों पर ध्यान देने पर एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की चौबीसी के तीर्थंकरों का तो नाम लेकर स्मरण किया है; किन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के तीर्थंकरों को नाम लेकर कहीं भी याद नहीं किया है। मात्र प्रवचनसार में बिना नाम लिए ही मात्र इतना कहा है।

"वंदामि य वट्ठंते अरहंते माणुसे खेत्ते।[१]

मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप में विद्यमान अरहंतों को वंदना करता हूँ।

इसीप्रकार प्रतिज्ञावाक्यों में केवली और श्रुतकेवली की वाणी के अनुसार ग्रन्थ लिखने की बात कही है। यहाँ निश्चित रूप से केवली के रूप में भगवान महावीर को याद किया गया है; क्योंकि श्रुतकेवली की बात करके उन्होंने साफ कह दिया है कि श्रुतकेवलियों के माध्यम से प्राप्त केवली भगवान की बात मैं कहूँगा। इसीकारण उन्होंने भद्रबाहु श्रुतकेवली को अपना गमकगुरु स्वीकार किया है। समयसार में तो सिद्धों को नमस्कार कर मात्र श्रुतकेवली को ही स्मरण किया है, श्रुतकेवली-कथित समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की है, केवली की बात ही नहीं की है, फिर सीमन्धर भगवान की वाणी सुनकर समयसार लिखा है — इस बात को कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

आचार्य अमृतचंद ने समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

उनके मूल कथन का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है —

"निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश; उससे मेरे जिनवैभव का जन्म हुआ है।"

आगे कहा गया है कि मैं अपने इस वैभव से आत्मा बताऊँगा। तात्पर्य यह है कि समयसार का मूलाधार महावीर, गौतमस्वामी, भद्रबाहु से होती हुई कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु तक आई श्रुतपरम्परा से प्राप्त ज्ञान है।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने अपनी प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है —

''भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यति नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्रप्रमाण की। इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए।

—इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।''

उक्त सम्पूर्ण कथनों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द को भरतक्षेत्र में विद्यमान भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से जुड़ना ही अभीष्ट है। वे अपनी बात की प्रामाणिकता के लिए भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की आचार्यपरम्परा पर ही निर्भर हैं।

यह सब स्पष्ट हो जाने पर भी यह प्रश्न चित्त को कुदेरता ही रहता है कि जब उन्होंने सर्वज्ञदेव सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन किए थे, उनका सदुपदेश भी सुना था तो फिर वे स्वयं को उनसे क्यों नहीं जोड़ते? न भी जोड़ें तो भी उनका उल्लेख तो किया ही जा सकता था, उनका नामोल्लेख-पूर्वक स्मरण तो किया ही जा सकता था?

उक्त शंकाओं के समाधान के लिए हमें थोड़ा गहराई में जाना होगा। आचार्य कुन्दकुन्द बहुत ही गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी जिम्मेदार आचार्य थे। वे अपनी जिम्मेदारी को भलीभांति समझते थे; अत: अपने थोड़े से यशलाभ के लिए वे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहते थे, जिससे सम्पूर्ण आचार्यपरम्परा व दिगम्बर दर्शन प्रभावित हो। यदि वे ऐसा कहते कि मेरी बात इसलिए प्रामाणिक है; क्योंकि मैंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए हैं, उनकी

दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया है तो उन आचार्यों की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती, जिनको सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का लाभ नहीं मिला था या जिन्होंने सीमन्धर परमात्मा से साक्षात् तत्त्वश्रवण नहीं किया था, जो किसी भी रूप में ठीक नहीं होता।

दूसरी बात यह भी तो है कि विदेहक्षेत्र तो वे मुनि होने के बाद गए थे। वस्तुस्वरूप का सच्चा परिज्ञान तो उन्हें पहले ही हो चुका था। यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने कुछ ग्रन्थों की रचना पहले ही कर ली हो। पहले निर्मित ग्रन्थों में तो उल्लेख का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, पर यदि बाद के ग्रन्थों में उल्लेख करते तो पहले के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता। अत: उन्होंने जानबूझकर स्वयं को महावीर और भद्रबाहु श्रुतकेवली की आचार्य परम्परा से जोड़ा।

यदि वे अपने को सीमन्धर तीर्थंकर अरहंत की परम्परा से जोड़ते या जुड़ जाते तो दिगम्बर धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर साधु अवस्था में सम्पूर्णत: नग्न थे। अत: हमारे श्वेताम्बर भाई अपने को महावीर की अचेलक परम्परा से न जोड़कर पार्श्वनाथ की सचेलक परम्परा से जोड़ते हैं। इसप्रकार वे अपने को दिगम्बर से प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं। वस्तुत: तो पार्श्वनाथ भी अचेलक ही थे। पार्श्वनाथ ही क्या, सभी तीर्थंकर अचेलक ही होते हैं, पर स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में वे उन्हें अपने मत की पुष्टि के लिए सचेलक मान लेते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द अपने को सीमन्धर परमात्मा से जोड़ते तो दिगम्बरों को विदेहक्षेत्र की परम्परा का जैन कहा जाने लगता; क्योंकि कुन्दकुन्द दिगम्बरों के सर्वमान्य आचार्य थे। इसप्रकार चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा के उत्तराधिकार का दावा श्वेताम्बर भाई करने लगते। अत: दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द का बार-बार यह घोषित करना कि मैं और मेरे ग्रन्थ भगवान महावीर, गौतम गणधर और श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा के ही हैं, अत्यन्त आवश्यक था।

किसी भी रूप में दिगम्बरों का सम्बन्ध भरतक्षेत्र से टूटकर विदेहक्षेत्र से न जुड़ जावे — हो सकता है इस बात को ध्यान में रखकर ही कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र-गमन की घटना का कहीं जिक्र तक न किया हो।

दूसरे, यह उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत उपलब्धि थी। व्यक्तिगत उपलब्धियों का सामाजिक उपयोग न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। अत: वे उसका उल्लेख करके उसे भुनाना नहीं चाहते थे। विदेहगमन की घोषणा के आधार पर वे अपने को महान साबित नहीं करना चाहते थे। उनकी महानता उनके ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। यह भी एक कारण रहा है कि उन्होंने विदेहगमन की चर्चा तक नहीं की।

तत्कालीन समय में लोक में तो यह बात प्रसिद्ध थी ही, यदि वे भी इसका जरा-सा भी उल्लेख कर देते तो यह बात तूल पकड़ लेती और इसके अधिक प्रचार-प्रसार से लाभ के बदले हानि अधिक होती। हर चमत्कारिक घटनाओं के साथ ऐसा ही होता है। अत: उनसे संबंधित व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे इनके अनावश्यक प्रचार-प्रसार में लिप्त न हों, जहाँ तक संभव हो, उनके प्रचार-प्रसार पर रोक लगावें, अन्यथा उनसे लाभ के स्थान पर हानि होने की संभावना अधिक रहती है।

कल्पना कीजिए कि आचार्यदेव कहते हैं कि मैं विदेह होकर आया हूँ, सीमन्धर परमात्मा के दर्शन करके आया हूँ, उनकी दिव्यध्वनि सुनकर आया हूँ; इसपर यदि कोई यह कह देता कि क्या प्रमाण है इस बात का, तो क्या होता? क्या आचार्यदेव उसे प्रमाण पेश करते फिरते? यह स्थिति कोई अच्छी तो नहीं होती।

अत: प्रौढ़ विवेक के धनी आचार्यदेव ने विदेहगमन की चर्चा न करके अच्छा ही किया है, पर उनके चर्चा न करने से उक्त घटना को अप्रमाणिक कहना देवसेनाचार्य एवं जयसेनाचार्य जैसे दिग्गज आचार्यों पर अविश्वास व्यक्त करने के अतिरिक्त और क्या है?

उपलब्ध शिलालेखों एवं उक्त आचार्यों के कथनों के आधार पर यह तो सहज सिद्ध ही है कि वे सदेह विदेह गये थे और उन्होंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। •

जिनअध्यात्म के सशक्त प्रतिपादक आचार्य अमृतचन्द्र

आत्मख्याति से सर्वथा दूर रहने वाले दिगम्बर सन्तों में विलक्षण प्रतिभा के धनी एवं जिन-अध्यात्म के सशक्त प्रतिपादक आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी कृतियों में अपने नाम के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थाधिराज समयसार पर आत्मख्याति जैसी सशक्त टीका लिखने के उपरान्त भी अन्त में यही लिखते हैं —

(उपजाति)

"स्वशक्ति संसूचितवस्तुतत्त्वैः व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ २७८ ॥

अपनी सहज योग्यता और स्वयं की शक्ति से वस्तुस्वरूप को सूचित करने वाले, प्रतिपादन करने वाले शब्दों के द्वारा यह समयसार की व्याख्या की गई है। अपने स्वरूप में गुप्त, शुद्धचैतन्य में लीन रहने वाले मुझ आचार्य अमृतचन्द्र का इसमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।"

उक्त छन्द में वे स्पष्ट कह रहे हैं कि लोक में आचार्य अमृतचन्द्र नाम से प्रसिद्ध मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ, सदा अपने स्वरूप में ही रहने वाला हूँ।

जगत कुछ भी कहे, पर वे तो स्वयं को निश्चयनय की प्रधानता से स्वरूपगुप्त ही मानते हैं।

अध्यात्म के जोर में वे कुछ भी कहें, पर उक्त कथन से इतना व्यावहारिक सत्य तो स्पष्ट हो ही गया है कि उनका नाम अमृतचन्द्र था और वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे।

प्रवचनसार परमागम के मर्म को खोलने वाली तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका के अन्त में तो यहाँ तक लिखते हैं कि —

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

''व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां ।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ॥

'आत्मा सहित विश्व व्याख्येय है, वाणी का गुम्फन व्याख्या है और आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्याता हैं' — हे जनो ! इसप्रकार मोह में मत नाचो।''

इस छन्द में भी मात्र नाम का ही उल्लेख है, पर 'सूरि' शब्द यहाँ भी नाम के साथ लगा हुआ है। पर इस छन्द की महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि वे आत्मा को वाणी या भाषा का कर्ता मानने को मोह में नाचना मानते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने कर्तृत्व पर प्रकाश कैसे डाल सकते थे ? इसीप्रकार देहादि संयोगों से अपने को पृथक् मानने वाले स्वरूपगुप्त आचार्य अमृतचन्द्र अपने नाम से देहादि संयोगों का परिचय भी कैसे देते ?

जिन-अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र, जिन्होंने न केवल आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह पर आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका एवं समयव्याख्या जैसी अद्‌भुत, अपूर्व एवं सशक्त टीकाएँ लिखीं; अपितु अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे, जो अपनी विशिष्ट शैली और मौलिकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र में लगभग एक हजार वर्ष का अन्तर है, पर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर अमृतचन्द्र के पूर्व लिखी गई कोई टीका देखने में नहीं आई। तो क्या कुन्दकुन्द के ये महान ग्रन्थराज एक हजार वर्ष तक ऐसे ही चलते रहे ? उनपर किसी ने कलम नहीं चलाई ? यह तो संभव नहीं लगता। हाँ, यह तो हो सकता है कि वे कृतियाँ इतनी सशक्त और प्रौढ़ न हों, जो अमृतचन्द्र की टीकाओं के सामने टिक सकतीं; अत: स्वयं ही काल के गाल में समा गई हों।

आश्चर्य तो यह है कि उनके बाद भी आचार्य जयसेन को छोड़कर और किसी की इन ग्रन्थों पर कलम चलाने की हिम्मत नहीं हुई। जयसेनीय टीकायें भी अमृतचन्द्रीय टीकाओं से उपकृत हैं और अपनी सरलता के कारण कालकवलित होने से बच गईं।

आज हम कुन्दकुन्द वाणी के मर्म तक पहुँचने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन पर आधारित हैं।

कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने के और भी अनेक प्रयास हुए हैं, जिनमें पाण्डे राजमलजी की कलश टीका, कविवर बनारसीदास का नाटक समयसार और पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा की भाषा टीका आदि प्रमुख हैं, किन्तु ईसवीं की बीसवीं सदी में जो सबसे सशक्त प्रयास हुआ है, वह है आध्यात्मिकसत्पुरुष कानजीस्वामी की आध्यात्मिक क्रान्ति का, जिसने एक आन्दोलन का रूप ले लिया है और आज कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र को घर-घर में पहुँचा दिया है, जन-जन की वस्तु बना दिया है।

पण्डित टोडरमलजी की दृष्टि में आत्मख्याति अध्यात्म की सर्वोत्कृष्ट कृति है। उसके अध्ययन की प्रेरणा देते हुए वे रहस्यपूर्ण चिट्ठी में मुलतानवाले भाइयों को लिखते हैं —

"वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति — समयसार ग्रन्थ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृत टीका में है और आगम की चर्चा गोम्मटसार में है तथा और अन्य ग्रन्थों में है। जो जानते हैं, वह सब लिखने में आवे नहीं, इसलिए तुम भी अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपानन्द में मग्न रहना।"

देखो, टोडरमलजी ने मूल समयसार का नाम न लेकर आत्मख्याति का नाम लिया। इससे प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में आत्मख्याति समयसार से भी महान है। वस्तुतः बात यह है कि समयसार की टीका होने से आत्मख्याति का अध्ययन करने पर समयसार का अध्ययन तो होगा ही।

दार्शनिक विषयवस्तु के विश्लेषण में तर्क और युक्तियों की प्रधानता रहती है। तर्क और युक्तियों के भार को गद्य ही बर्दाश्त कर पाता है। यही कारण है

कि टीकायें प्राय: गद्य में ही लिखी जाती हैं, अद्यावधि उपलब्ध टीकाएँ गद्य में ही हैं। यह बात अलग है कि मंगलाचरण, प्रशस्ति एवं उद्धरणों के रूप में कतिपय छन्द लिखे जायें, पर सम्पूर्ण विषयवस्तु गद्य में ही लिखी जाती है, किन्तु आत्मख्याति एक ऐसी टीका है जो गद्य एवं पद्य — दोनों में लिखी गई है। यह एक प्रकार से चम्पूकाव्य है; क्योंकि चम्पूकाव्य की परिभाषा ही यही है कि — **गद्यपद्यमयंकाव्यं चम्पूरित्यभिधीयते** — गद्य और पद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं।

आत्मख्याति टीका में समागत पद्यभाग इतना विशाल और महत्त्वपूर्ण है कि उसे यदि अलग से रखें तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन जाता है। ऐसा हुआ भी है — भट्टारक शुभचन्द्र ने परमाध्यात्मतरंगिणी नाम से, पाण्डे राजमलजी ने समयसारकलश नाम से एवं पण्डित जगमोहनलालजी ने अध्यात्मअमृतकलश नाम से उन पद्यों का संग्रह किया और उन पर स्वतंत्र टीकाएँ लिखी हैं। २७६ छन्दों में फैला यह पद्यभाग विविधवर्णी १६ प्रकार के छन्दों से सुसज्जित है, विविध अलंकारों से अलंकृत है और परमशान्त अध्यामरस से सराबोर है। इन्हीं छन्दों को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार की रचना की है, जो हिन्दी जैनसाहित्य की अनुपम निधि है।

आत्मख्याति टीका में बुद्धि और हृदय का अद्‌भुत समन्वय है। जब अमृतचंद्र वस्तुस्वरूप का विश्लेषण करते हैं तो प्रवाहमय प्रांजल गद्य का उपयोग करते हैं और जब वे परमशान्त अध्यात्मरस में निमग्न हो जाते हैं तो उनकी लेखनी से विविधवर्णी छन्द प्रस्फुटित होने लगते हैं। जिस विषयवस्तु को गद्य में तर्क और युक्तियों से पाठकों के गले उतारने का प्रयास किया जाता है, प्राय: उसे ही जीवन में उतारने की प्रेरणा कोमलकान्त पदावली में प्रिय संबोधनों द्वारा दी जाती है। इसप्रकार जब उनकी बुद्धि में युक्तियों का अंबार लग जाता है, तर्कों का पहाड़ खड़ा हो जाता है तो ये गद्य लिखने लगते हैं और जब हृदय में भावनाओं का उद्‌दाम वेग उमड़ने लगता है तो उनकी लेखनी से छन्द फूटने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि जब उनकी बुद्धि हृदय पर हावी

रहती है, तब वे गद्य लिखते हैं और जब हृदय बुद्धि पर सवार हो जाता है तो वे कविता करने लगते हैं।

इसीप्रकार के तत्त्व उनकी अन्य टीकाओं में भी पाये जाते हैं।

उनके मौलिक ग्रन्थों में **लघुतत्त्वस्फोट** भक्ति साहित्य का बेजोड़ नमूना है, जो आद्यस्तुतिकार समन्तभद्र की स्तुतियों के समकक्ष खड़े होने में पूर्ण समर्थ हैं। यह स्तुति साहित्य में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें २५-२५ छन्दों के २५ अध्याय हैं। इसप्रकार ६२५ छन्द हैं।

इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से जिनागम में वर्णित मूल दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अबतक उपलब्ध श्रावकाचारों में अपने ढंग का अलग निराला श्रावकाचार है, जिसमें अमृतचन्द्र के अध्यात्म की गहरी छाप है। इसमें अहिंसा का वर्णन जिस गहराई से किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

तत्त्वार्थसार आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र और उसपर लिखे गये आचार्य अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक की विषयवस्तु को आधार बनाकर लिखा गया तत्त्वार्थ का विवेचन है। यह तो सर्वविदित ही है कि तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थराजवार्तिक संस्कृत भाषा के गद्य में लिखे गये ग्रन्थ हैं, जिनकी विषयवस्तु को अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में पद्य में प्रस्तुत किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सर्वांगीण प्रतिभा के धनी थे। उनका जिन-अध्यात्म पर तो एकाधिकार था ही, वे न्यायशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र और आचारशास्त्र के भी परगामी थे। व्याकरण, छन्द, अलंकार, रस आदि काव्यशास्त्रीय विधाओं पर भी उनका अधिकार था।

इसप्रकार वे रससिद्ध कवि, सशक्त टीकाकार और लोकप्रसिद्धि से दूर रहने वाले समर्थ आचार्य थे।

वे जिन-अध्यात्म के प्रखर तेजस्वी दिनकर थे, जिसकी किरणें आज हजार वर्ष बाद भी अध्यात्म जगत को आलोकित कर रही हैं। •

कविवर पण्डित बनारसीदास

(जैनपथप्रदर्शक के, पण्डित बनारसीदास विशेषांक मार्च १९८७ से)

जिन-अध्यात्म-गगन के दैदीप्यमान नक्षत्र कविवर पण्डित बनारसीदासजी हिन्दी-साहित्य-गगन के भी चमकते सितारे हैं, हिन्दी आत्मकथा साहित्य के तो आप आद्य प्रणेता ही हैं। यह मात्र कल्पना नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य जगत का एक स्वीकृत तथ्य है। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के अधिकारी विद्वान श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य हैं —

"कविवर बनारसीदास के आत्मचरित 'अर्द्धकथानक' को आद्योपान्त पढ़ने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस ग्रन्थ का एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है, जो इसे अभी तक कई सौ वर्षों तक जीवित रखने में सर्वथा समर्थ होगी। सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा जबरदस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तक की इतनी सरल है और साथ ही साथ इतनी संक्षिप्त भी है कि साहित्य की चिरस्थाई सम्पत्ति में इसकी गणना अवश्यमेव होगी। हिन्दी का तो यह प्रथम आत्मचरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसप्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं है और सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि कविवर बनारसीदास का दृष्टिकोण आधुनिक आत्मचरित-लेखकों के दृष्टिकोण से बिल्कुल मिलता-जुलता है। अपने चारित्रिक दोषों पर उन्होंने पर्दा नहीं डाला है, बल्कि उनका विवरण इस खूबी के साथ किया है, मानो कोई वैज्ञानिक तटस्थ वृत्ति से विश्लेषण कर रहा हो। आत्मा की ऐसी चीर-फाड़ कोई अत्यन्त कुशल साहित्यिक सर्जन ही कर सकता था।[१]

---

१. अर्द्धकथानक, हिन्दी का प्रथम आत्मचरित, पृष्ठ २

फक्कड़-शिरोमणि कविवर बनारसीदासजी ने तीन-सौ वर्ष पूर्व आत्मचरित लिखकर हिन्दी के वर्तमान और भावी फक्कड़ों को मानो न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रतापूर्वक अपने को कीट-पतंगों की श्रेणी में रखा है (हमसे कीट-पतंग की, बात चलावे कौन?) तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे आत्मचरित-लेखकों में शिरोमणि हैं।[१]"

श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वे कविवर बनारसीदासजी को मात्र हिन्दी का ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय भाषाओं का सर्वश्रेष्ठ एवं आद्य आत्मकथाकार स्वीकार करते हैं।

फक्कड़-शिरोमणि महाकवि पण्डित बनारसीदास ने अपने जीवन में जितने उतार-चढ़ाव देखे, उतने शायद ही किसी महापुरुष के जीवन में आये हों। पुण्य और पाप का ऐसा सहज संयोग अन्यत्र असंभव नहीं तो दुर्लभ तो है ही। जहाँ एक ओर उनके पास उधार खाई चाट के पैसे चुकाने के लिए भी नहीं थे, वहीं दूसरी ओर वे कई बार लखपति भी बने। जहाँ एक ओर वे शृंगाररस में सराबोर एवं आशिखी में रस-मग्न दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर समयसार की पावन अध्यात्मगंगा में भी डुबकियाँ लगाते दिखाई देते हैं। एक ओर स्वयं रूढ़ियों में जकड़े मंत्र-तंत्र के घटाटोप में आकण्ठ डूबे दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर उनका जोरदार खण्डन करते भी दिखाई देते हैं।

उन्होंने अपने जीवन में तीन बार गृहस्थी बसाई, पर तीनों बार उजड़ गई। ऐसी बात नहीं थी कि वे संतान का मुँह देखने को तरसे हों, पर यह भी सत्य है कि उन्हें संतान सुख प्राप्त न हो सका। तीन-तीन शादियाँ और नौ-नौ संतानों का सौभाग्य किस-किसको मिलता है? पर दुर्भाग्य की भी तो कल्पना कीजिए कि उनकी आँखों के सामने ही सबके सब चल बसे और वे कुछ न कर सके, हाथ मलते रह गये। उस समय उन पर कैसी गुजरी होगी — यह एक भुक्तभोगी ही जान सकता है।[२]

उन्होंने स्वयं अपनी अन्तर्वेदना इसप्रकार व्यक्त की है —

---

१. अर्द्धकथानक, हिन्दी का प्रथम आत्मचरित, पृष्ठ १४

२. समयसार नाटक, प्रस्तावना, पृष्ठ १

"कही पचावन बरस लौं, बनारसि की बात।
तीनि बिवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात ॥६४२॥
नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यौं तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूँठ-से होई ॥६४३॥
तत्त्वदृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भाँति।
ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौं उपसांति ॥६४४॥
संसारी जानै नहीं, सत्यारथ की बात।
परिगह सौं मानै विभौ, परिगह बिन उतपात ॥६४५॥[1]"

उन्होंने अपने इस अप्रत्याशित दु:ख को अध्यात्म के आधार पर ही सहन किया था। इस दुस्सह वियोग को वे परिग्रह का घटना मानकर मन को समझा अवश्य रहे हैं, पर क्या इस चंचल मन का समझ जाना इतना आसान है? अपनी इस स्वभावगत कमजोरी को भी कवि छिपा नहीं सका और तत्काल अपने गुण-दोष-कथन में वह स्वीकार कर लेता है कि —

"थोरे लाभ हरख बहु धरै। अलप हानि बहु चिन्ता करै।
अकस्मात भय ब्यापै घनी। ऐसी दसा आइ करि बनी ॥[2]"

कवि ने इतने उतार-चढ़ाव देखे थे कि उन्हें आकस्मिक घटनाओं का भय सदा ही व्याप्त रहने लगा था। अनुकूलता में भी सदा यही आशंका बनी रहती थी कि कहीं कुछ अघटित न घट जावे।

वे अपने को मध्यम जाति का पुरुष मानते थे। उनके मध्यम जाति के पुरुष की परिभाषा इसप्रकार है —

"जे भाखहिं पर-दोष-गुन, अरु गुन-दोष सुकीउ।
कहहिं सहज ते जगत मैं, हम-से मध्यम जीउ ॥[3]"

जो लोग अपने व पराये दोष व गुण सहज भाव से प्रगट कर देते हैं, वे हमारे जैसे मध्यम जाति के जीव हैं।"

---

१. अर्द्धकथानक, छन्द ६४२ से ६४५
२. अर्द्धकथानक, छन्द ६५४ व ६५६
३. अर्द्धकथानक, छन्द ६६८

अपने आरंभिक जीवन में वे चाहे जैसे भी रहे हों, पर सैंतीस वर्ष की अवस्था में अरथमलजी ढोर के संयोग से उनके जीवन में आध्यात्मिक मोड़ आया। अरथमलजी ने उन्हें समयसार की आत्मख्याति टीका में समागत कलशों पर पाण्डे राजमलजी कृत टीका पढ़ने को दी, जिसे पढ़कर बनारसीदासजी के जीवन में आध्यात्मिक रुचि तो जागृत हो गई, पर उसका रहस्य न समझ पाने से उनकी दशा निश्चयाभासी जैसे हो गई।

इस सन्दर्भ में वे 'अर्द्धकथानक' में स्वयं लिखते हैं. —

"समय अस्सिए ब्याहन गये। आए घर गृहस्थ फिरि भये ॥५९१॥
तब तहाँ मिले अरथमल ढोर। करैं अध्यात्म बातैं जोर ॥
तिनि बनारसी सौं हित कियौ। समैसार नाटक लिखि दियौ ॥५९२॥
राजमल्ल नै टीका करी। सो पोथी तिनि आगै धरी ॥
कहै बनारसी सौं तू बांचु। तेरे मन आवेगा सांचु ॥५९३॥
तब बनारसि बांचै नित्त। भाषा अरथ बिचारै चित्त ॥
पावै नहीं अध्यात्म पेच। मानै बाहिर किरिआ हेच ॥५९४॥
करनी कौ रस मिटि गयौ, भयो न आतमस्वाद ॥
भई बनारसि की दसा, जथा ऊंट कौ पाद ॥५९५॥
ऐसी दसा भई एकंत। कहौं कहां लौं सो विरतंत ॥
बिनु आचार भई मति नीच। सांगानेर चले इस बीच ॥५९९॥
चन्द्रभान बानारसी, उदैकरण अरु थान ॥
चारौं खेलहिं खेल फिरि, करहिं अध्यातम ग्यान ॥६०२॥
नगन हौंहिं चारौं जने, फिरहिं कोठरी मांहि ॥
कहहिं भए मुनिराज हम, कछू परिग्रह नांहि ॥६०८॥"

उक्त प्रवृत्ति के कारण वे बदनाम भी बहुत हुए। पण्डित होने के कारण साथियों की अपेक्षा उनकी बदनामी अधिक हुई। वे स्वयं लिखते हैं —

"कहहिं लोग श्रावक अरु जती। बानारसी खोसरामती ॥
तीनि पुरुष की चलै न बात। यह पंडित तातैं विख्यात ॥६०८॥"

उनकी यह दशा १२ वर्ष तक रही। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस बीच उन्होंने 'बनारसी विलास' में संग्रहीत बहुत-सी रचनाएँ लिखीं, जिनमें कोई दोष नहीं है।

इस संदर्भ में वे साफ-साफ लिखते हैं —

"सोलस सै बानवै लौं कियौ नियत-रस-पान ॥
पै कबीसुरी सब भई, स्यादवाद-परवान ॥ ६२९ ॥"

संवत् सोलह सौ बानवे में ४९ वर्ष की अवस्था में पण्डित श्री रूपचन्दजी पाण्डे का समागम हुआ। उनसे गोम्मटसार पढ़कर गुणस्थानुसार (भूमिकानुसार) आचरण का ज्ञान हुआ और कविवर की परिणति स्याद्वादानुसार सम्यक् हुई। इसके बाद उन्होंने 'समयसार नाटक' की रचना की। उनकी रचनाएँ चाहे परिणति सम्यक् होने के बाद की हों, चाहे पहिले की; पर उनकी प्रामाणिकता में कोई संदेह की गुंजाइस नहीं है — इस बात का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं —

"तब फिरि और कबीसुरी, करी अध्यातम माँहि ॥
यह वह कथनी एक सी, कहुँ विरोध किछु नांहि ॥ ६३६ ॥
हृदै मांहि कछु कालिमा, हुती सरहदन बीच ॥
सोऊ मिटि समता भई, रही न ऊंच न नीच ॥ ६३७ ॥
अब सम्यक् दरसन उनमान। प्रगट रूप जानै भगवान ॥
सोलह सै तिरानवै वर्ष। समैसार नाटक धरि हर्ष ॥ ६३८ ॥

इसके बाद वे सात-आठ वर्ष और जिए, जिसमें उनका जीवन एकदम शुद्ध सात्त्विक रहा, आध्यात्मिक साधना-आराधना में लगा रहा। लगभग सत्तावन वर्ष की उम्र में उनका स्वर्गवास हुआ। इसप्रकार १२ वर्ष के निश्चयाभासी और ८ वर्ष के सम्यग्ज्ञानमय अनैकान्तिक जीवन में अर्थात् जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में उनके द्वारा जो भी सत्साहित्य का निर्माण और आध्यात्मिक क्रान्ति हुई, उसने दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही जैन सम्प्रदायों में समागत शिथिलता, मंत्र-तंत्रवाद एवं अनावश्यक क्रिया-काण्ड को झकझोर दिया। इसकारण उनके अध्यात्मवाद का दोनों ओर से घोर विरोध हुआ। श्वेताम्बर यतियों और दिगम्बर भट्टारकों ने उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति का डटकर विरोध किया, पर उसके प्रबल-प्रवाह को अवरुद्ध न कर सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यशोविजयजी ने बनारसीदासजी के स्वर्गवास के लगभग आठ-दश वर्ष बाद ही 'अध्यात्ममत परीक्षा', 'अध्यात्ममत खण्डन'

एवं 'सितपट चौरासी बोल' नामक ग्रन्थ इसी अध्यात्म मत के खण्डन में लिखे हैं। यशोविजयजी के लगभग ५० वर्ष बाद मेघविजयजी ने भी इसी अध्यात्ममत के विरोध में 'युक्तिप्रबोध' नामक ग्रन्थ लिखा है। जिसमें लिखा है कि — "आगरे में आध्यात्मिक कहलानेवाले 'वाराणसीय' मती लोगों के द्वारा कुछ भव्यजनों को विमोहित देखकर उनके भ्रम को दूर करने के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है। ये वाराणसीय लोग श्वेताम्बरमतानुसार स्त्री-मोक्ष, केवलिकवलाहार पर श्रद्धा नहीं रखते और दिगम्बर मत के अनुसार पिच्छि-कमण्डलु आदि भी अंगीकार नहीं करते, तब इनमें सम्यक्त्व कैसे माना जाय?

आगे लिखा है कि आगरे में बनारसीदास खरतरगच्छ के श्रावक थे और श्रीमाल कुल में उत्पन्न हुए थे। पहले उनमें धर्मरुचि थी; सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध, तप, उपधानादि करते थे; जिनपूजन, प्रभावना, साधर्मीवात्सल्य, साधुवंदना, भोजनदान में आदरबुद्धि रखते थे, आवश्यकादि पढ़ते थे और मुनि-श्रावकों के आचार को जानते थे। कालान्तर में उन्हें पण्डित रूपचंद, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुमारपाल और धर्मदास — ये पाँच पुरुष मिले और शंका-विचिकित्सा से कलुषित होने से तथा उनके संसर्ग से वे सब व्यवहार छोड़ बैठे। उन्हें श्वेताम्बरमत पर अश्रद्धा हो गई। कहने लगे कि यह परस्परविरुद्ध मत ठीक नहीं है, दिगम्बरमत सम्यक् है।

वे लोगों से कहने लगे कि इस व्यवहारजाल में फँसकर क्यों व्यर्थ ही अपनी विडम्बना कर रहे हो? मोक्ष के लिए तो केवल आत्मचिन्तनरूप, सर्वधर्मसार उपशम का आश्रय लो और इन लोकप्रत्यायिका क्रियाओं को छोड़ दो। अनेक आगमयुक्तियों से समझाने पर भी वे अपने पूर्वमत में स्थिर न हो सके, बल्कि श्वेताम्बरमान्य दश आश्चर्यादि को भी अपनी बुद्धि से दूषित कहने लगे।

अध्यात्मशास्त्रों में प्रायः ज्ञान की ही प्रधानता है और दान-शील-तपादि क्रियाएँ गौण हैं; इसलिए निरन्तर अध्यात्मशास्त्रों के श्रवण से उन्हें दिगम्बरमत में विश्वास हो गया है, वे उसी को प्रमाण मानने लगे हैं। प्राचीन दिगम्बर श्रावक अपने गुरु मुनियों (भट्टारकों) पर श्रद्धा रखते हैं, परन्तु इनकी उन पर भी श्रद्धा नहीं है।

अपने मत की वृद्धि के लिए उन्होंने भाषा कविता में समयसार नाटक और बनारसीविलास की रचना की है। विक्रम सं. १६८० में बनारसीदास का यह मत उत्पन्न हुआ। बनारसीदास के कालगत होने पर कुँवरपाल ने इस मत को धारण किया और तब वह गुरु के समान माना जाने लगा।[१]

ये अध्यातमी या वाराणसीय कहते हैं कि हम न दिगम्बर हैं और न श्वेताम्बर, हम तो तत्त्वार्थी — तत्त्व की खोज करनेवाले हैं। इस महीमण्डल में मुनि नहीं हैं। भट्टारक आदि जो मुनि कहलाते हैं, वे गुरु नहीं हैं। अध्यातममत ही अनुसरणीय है, आगमिक पंथ प्रमाण नहीं है, साधुओं के लिए वनवास ही ठीक है।[२]

उक्त सम्पूर्ण कथन है मेघविजयजी के युक्तिप्रबोध का। इससे बनारसीदास के प्रभाव का पता चलता है।

जिसतरह श्वेताम्बर विद्वानों ने अध्यात्ममत पर आक्रमण किए, उसीतरह दिगम्बरों ने भी किए; किन्तु दिगम्बरों ने उनके मत को 'अध्यात्ममत' न कहकर 'तेरापंथ' कहा है।[३]

भट्टारकपरम्परा के पोषक विद्वान् बखतराम शाह ने विक्रम संवत् १८२१ में एक 'मिथ्यात्वखण्डन' नामक ग्रन्थ लिखा, जो इस आध्यात्मिक क्रान्ति के विरोध के लिए ही सम्पूर्णतः समर्पित है। उसमें वे लिखते हैं —

"प्रथम चल्यो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक।
सौलह सै तीयासिए, गही कितु मिलि टेक ॥२०॥
फिर कामां में चलि पर्‌यो, ताही के अनुसारि ॥२२॥
भट्टारक आमेर के, नरेन्द्रकीर्ति सु नाम।
यह कुपंथ तिनके समय, नयो चल्यो अघधाम ॥२५॥
किते महाजन आगरे, जात करण व्यौपार।
बनि आवैं अध्यातमी, लखि नूतन आचार ॥२६॥"

इसप्रकार हम देखते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं की ओर से प्रबल विरोध होने पर भी उक्त आध्यात्मिक क्रान्ति दिन-दूनी रात-

१. अर्द्धकथानक, भूमिका, पृष्ठ ४२
२. अर्द्धकथानक, भूमिका, पृष्ठ ५६
३. वही, भूमिका, पृष्ठ ४८

चौगुनी फली-फूली। कहा तो यहाँ तक जाता है कि समयसार नाटक और बनारसी-विलास के कवित्त जैनाजैन जनता में इतने लोकप्रिय हो गये थे कि आगरा आदि नगरों की गली-गली में गाये जाने लगे थे। उक्त बात की पुष्टि समयसार और आत्मख्याति के भाषाटीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के आज से १८० वर्ष पूर्व लिखे गये निम्नांकित कथन से भी होती है —

"दूसरा प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ की वचनिका पहले भी हुई है, उसके अनुसार बनारसीदास ने कलशों के देशभाषामय पद्यात्मक कवित्त बनाये हैं, जो स्वमत-परमत में प्रसिद्ध भी हुए हैं। उन कवित्तों से अर्थ-सामान्य का ही बोध होता है। उनका अर्थ-विशेष समझे बिना किसी को पक्षपात भी उत्पन्न हो सकता है। उन कवित्तों को अन्यमती पढ़कर अपने मतानुसार अर्थ भी करते हैं। अत: विशेषार्थ समझे बिना यथार्थ अर्थ का बोध नहीं हो सकता और भ्रम मिट नहीं सकता। इसलिए इस वचनिका विषैं यत्र-तत्र नयविभाग से अर्थ स्पष्ट खोलेंगे, जिससे भ्रम का नाश होगा।[१]"

'बनारसीविलास' में पीताम्बर कवि की ज्ञानबावनी संकलित है, जिसमें ५२ इकतीसा सवैया हैं। इसके संबंध में कहा जाता है कि आगरे में कपूरचन्दजी साहू के मंदिर में एक सभा जुड़ी हुई थी, जिसमें बनारसीदासजी के अनन्य सहयोगी कँवरपाल आदि भी थे। उसी समय बनारसीदासजी के वचनों की चर्चा चली। उन सबकी आज्ञा से पीताम्बर ने यह ज्ञानबावनी तैयार की। इसका पचासवाँ छन्द इसप्रकार है —

"खुसी ह्वै कै मंदिर कपूरचन्द साहू बैठे,
बैठे कौंरपाल सभा जुरी मनभावनी।
बानारसीदासजू के वचन की बात चली,
याकी कथा ऐसी ग्याता ग्यान मन लावनी॥
गुनवंत पुरुष के गुन कीरतन कीजै,
पीताम्बर प्रीति करि सज्जन सुहावनी।
वही अधिकार आयौ ऊँघते बिछौना पायो,
हुकम प्रसाद तैं भई है ज्ञानबावनी॥५०॥

---

१. समयसार, प्रस्तावना

इस ज्ञानबावनी में बनारसीदास के प्रभाव का अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है। इसमें एक रूपक के माध्यम से कहा गया है कि मानों बनारसीदासजी के नेतृत्व में यह अध्यात्मशैली मोक्षमहल की ओर प्रयाण कर रही है। मूल छन्द इसप्रकार है —

"जिनवाणी दुग्ध माहिं विजया सुमति डार,
निज स्वाद कंदवृन्द चहल-पहल में ।
विवेक विचार उपचार ए कसूंभो कीन्हों,
मिथ्यासोफी मिटि गये ज्ञान की गहल में ॥
शीरनी शुकलध्यान अनहद नाद तान,
गान गुणमान करै सुजस सहल में ।
बानारसीदास मध्यनायक सभासमूह,
अध्यातमशैली चली मोक्ष के महल में ॥ ४५ ॥

विक्रम संवत् १६८६ में लिखी गई इस रचना से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि बनारसीदास उस समय तक बहुत प्रसिद्धि पा चुके थे। दूर-दूर से लोग उनके सत्समागम का लाभ लेने आते थे, उनके समागम में थोड़ा-बहुत रहने पर उनके ही बनकर रह जाते थे। पीताम्बर कवि भी कहीं बाहर से उनके समागम का लाभ लेने ही आये थे और उनके ही होकर रह गये थे।

ज्ञानबावनी के ४९वें छन्द में वे लिखते हैं —

"शकवंधी सांचो शिरीमाल जिनदास सुन्यो,
ताके बंस मूलदास विरध बढ़ायौ है ।
ताके बंस क्षिति में प्रगट भयौ खड्गसेन,
बानारसीदास ताके अवतार आयो है ॥
बीहोलिया गोत गर वतन उद्योत भयो,
आगरे नगर माहिं भेंटे सुख पायो है ।
बानारसी बानारसी खलक बखान करै,
ताकौं वंश नाम ठाम गाम गुण गायो है ॥ ४९ ॥

उक्त छन्द में बनारसीदास के जन्म को 'अवतार' शब्द से अभिहित किया है और कहा है कि आगरे में उनसे भेंट कर मुझे बहुत आनन्द हुआ है। मैं अधिक क्या कहूँ, सारी ही दुनिया बनारसीदास का ही बखान करती है।

मुलतान निवासी ओसवाल जातीय वर्द्धमान नवलखा वि. सं. १७४६ में लिखी गई 'वर्द्धमान वचनिका' के अन्त में लिखते हैं —

"धरमाचारिज धरमगुरु, श्री वाणारसीदास ।
जासु प्रसादै मैं लख्यौ, आतम निजपद वास ॥१॥
परम्परा ए गयान की, कुन्द-कुन्द मुनिराज ।
अमृतचन्द्र राजमल्लजी, सबहूँ के सिरताज ॥३॥
ग्रन्थ दिगम्बर के भले, भीष सेताम्बर चाल ।
अनेकान्त समझे भला, सो ग्याता की चाल ॥४॥
स्याद्वाद जिनके वचन, जो जाने सो जान ।
निश्चै व्यवहारी आतमा, अनेकान्त परमान ॥५॥

इस कृति के बीच में भी कुछ छन्द इसप्रकार के आते हैं, जिनमें बनारसीदासजी का बड़े ही सन्मान के साथ उल्लेख किया गया है। जैसे —

"जिनधरमी कुल सेहरो, श्रीमालां सिणगार ।
बाणारसी विहोलिया, भविक जीव उद्धार ॥
वाणारसी प्रसाद तैं, पायो ग्यांन विग्यांन ।
जग सब मिथ्या जान करि, पायो निज स्वस्थान ॥
वाणारसी सुदयाल ले, लाधो भेदविग्यांन ।
पर गुण आस्या छांड़ि के, लीजै सिव कौ थान ॥"

उक्त छन्दों से पता चलता है कि मुलतानवासी ओसवाल भी बनारसीदास के प्रभाव से अध्यातमी दिगम्बर हो गये थे, जिनका बाद में पण्डित टोडरमलजी से तत्त्वचर्चा सम्बन्धी पत्र-व्यवहार हुआ था।

उक्त छन्दों में बनारसीदास को धर्मगुरु एवं धर्माचार्य कहा गया है, उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र एवं पाण्डे राजमलजी की परम्परा का दिगम्बर बताया गया है। उन्हें जिनधर्मियों का मुकुटमणि, श्रीमालों का शृंगार, भविकजनों का उद्धारक कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उनके प्रसाद से, उनके प्रयास से हमें भेदविज्ञान की प्राप्ति हुई है। बनारसीदास की मृत्यु के ४६ वर्ष बाद आवागमन के साधनों के अभाव वाले उस युग में मुलतान जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्र में बनारसीदास के इस प्रभाव को देखकर उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति के प्रचार-प्रसार का अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार एक ऐसा क्रान्तिकारी आध्यात्मिक ग्रंथ है, जिसने विगत दो हजार वर्षों में बनारसीदासजी जैसे अनेक लोगों को

आध्यात्मिक धारा की ओर मोड़ा है। बनारसीदासजी के ठीक तीन सौ वर्ष बाद आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को यह ग्रन्थाधिराज समयसार हाथ लगा और वे भी आन्दोलित हो उठे, उनमें भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। वि.सं. १६९२ में बनारसीदासजी ने सम्यक् मार्ग अपनाया था तो वि. सं. १९९१ में कानजी स्वामी ने मुँह-पत्ती त्यागकर दिगम्बर धर्म स्वीकार किया। दोनों ही श्रीमाल जाति में उत्पन्न हुए थे, दोनों ने ही अपने-अपने युग में समयसार को जन-जन की वस्तु बना दिया, दोनों का ही दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों द्वारा डटकर विरोध हुआ, पर दोनों के ही बढ़ते क्रान्तिकारी कदमों को कोई नहीं रोक सका।

आचार्य कुन्दकुन्द के जिन-अध्यात्म में कुछ ऐसी अद्‌भुत शक्ति विद्यमान है, जो शताब्दियों से अत्यन्त विभक्त दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों को नजदीक लाने का कार्य करता रहा है, एक मंच पर लाने का कार्य करता रहा है। जब-जब भी इन दोनों सम्प्रदायों के लोगों ने कुन्दकुन्द के जिन-अध्यात्म को अपनाया, तब-तब वे एक-दूसरे के नजदीक आये हैं। यद्यपि दोनों ही सम्प्रदायों के पुरातनपंथियों ने उनका डटकर विरोध किया, पर अध्यात्म के आधार पर समागत नजदीकी को दूरी में बदलने में वे असमर्थ ही रहे। कविवर बनारसीदास एवं आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के साथ भी यही इतिहास दुहराया गया है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि विरोधियों द्वारा श्री कानजीस्वामी पर भी आज वे ही आरोप लगाये जा रहे हैं, जो तीन सौ वर्ष पूर्व बनारसीदास पर लगाये गये थे।

वस्तुत: बात तो यह है कि बनारसीदासजी या श्री कानजीस्वामी का विरोध समयसार का विरोध है, आचार्य कुन्दकुन्द का विरोध है, जिन-अध्यात्म का विरोध है, शुद्धाम्नाय का विरोध है। अधिक क्या कहें? यह सब निज भगवान आत्मा का ही विरोध है, स्वयं का ही विरोध है, स्वयं को अनन्त संसारसागर में डुबा देने का महान अधम कार्य है।

ऐसा आत्मघाती महापाप शत्रु से भी न हो — इस पावन भावना के साथ दोनों ही दिवंगत महापुरुषों को श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए विराम लेता हूँ।

●

आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में कानजीस्वामी का योगदान

(जैनपथप्रदर्शक विशेषांक १९९०)

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का प्रसिद्ध परमागम समयसार यदि आज जन-जन की वस्तु बन रहा है तो उसका सर्वाधिक श्रेय एकमात्र आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को ही है। न केवल समयसार अपितु प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह तथा अष्टपाहुड भी यदि आज जिनमन्दिरों की प्रवचन सभाओं में प्रवचन के विषय बन गये हैं तो इसका श्रेय भी कानजीस्वामी को ही है।

आज का हर जागृत श्रोता समयसार ही सुनना चाहता है। यही कारण है कि आज उन्हें भी सभाओं में समयसार पढ़ना पड़ रहा है, जो कभी समयसार को पढ़ने का निषेध किया करते थे कि समयसार श्रावकों को पढ़ने की चीज नहीं है।

सचमुच ही यह साधारण कार्य नहीं है कि जो कृति कभी विद्वानों के अध्ययन की वस्तु न थी, वह आज जन-जन की वस्तु बन गई है।

तत्कालीन जैन समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए ४ नवम्बर, १९७६ के जैनसन्देश के सम्पादकीय रूप में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचंदजी, वाराणसी का निम्नांकित कथन पर्याप्त है, जो उस समय की स्थिति का नग्न चित्र प्रस्तुत करता है। उनका मूल कथन शब्दशः इस प्रकार है —

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था; किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के

समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करने वाले बिरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजीस्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि कानजीस्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।''

सिद्धान्ताचार्यजी की उक्त पंक्तियाँ डंके की चोट पर यह घोषणा कर रही हैं कि इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान है।

गंभीरता से विचार करने की बात यह है कि जो काम हजारों व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयासों से भी संभव नहीं हो पाता, वह काम अपने में ही मग्न इस महापुरुष से कैसे संभव हुआ?

आज यह बात किसी से छुपी नहीं है किसी भी महापुरुष की वाणी के प्रचार-प्रसार के नाम पर राष्ट्रीय स्तर पर एवं सम्पूर्ण समाज के स्तर पर अनेक योजनायें बनती हैं, करोड़ों का बजट भी बनता है, बाहरी ताम-झाम भी बहुत होता है; पर कतिपय दिनों तक थोड़ा-बहुत हो-हल्ला होकर रह जाता है; इससे आगे कुछ भी नहीं होता।

आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार के लिए भी सम्पूर्ण समाज के स्तर पर अनेक योजनायें बनीं, उनके द्विसहस्राब्दी समारोह मनाने के लिए अनेक आयोजन भी किये गये; पर क्या हम ऐसा कुछ कर सके हैं कि जिससे पीढ़ियाँ प्रभावित हुई हों, दस-बीस व्यक्ति कुन्दकुन्द के रंग में रंग गये हों; एक भी व्यक्ति ने कुन्दकुन्द की वाणी का गहराई से रसास्वादन किया हो? जबकि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के प्रताप से कुन्दकुन्द के लाखों पाठक तैयार हुए हैं, कुन्दकुन्दवाणी के सैकड़ों प्रवक्ता तैयार हुए हैं और लाखों श्रोता भी तैयार हुए हैं; करोड़ों की संख्या में उनसे संबंधित साहित्य भी जन-जन तक पहुँचा और यह सबकुछ बिना प्रदर्शन के एकदम चुपचाप हुआ है।

स्वामीजी ने कुन्दकुन्द वाणी के प्रचार-प्रसार के लिए कुछ किया हो — ऐसा बिल्कुल नहीं है। उनका जन्म भी कुन्दकुन्द के अनुयायी सम्प्रदाय में नहीं हुआ था; किन्तु जब उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार हाथ लगा और उन्होंने उसका सामान्यावलोकन किया तो उनके मुँह से सहज ही फूट पड़ा — "अहा, यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।"

और वे सबकुछ भूलकर उसके मंथन में जुट गये। वे जंगल में जाते, किसी गिरि-गुफा में बैठकर घण्टों उनके अध्ययन-मनन-चिन्तन में मग्न रहते, खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती। उन दिनों वे समयसारमय हो गये थे और समयसार उनमय हो गया था। उन दिनों ही क्या, समयसार मिलने के बाद वे जीवनभर ही समयसारमय रहे।

वे आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समयसार पर ऐसे समर्पित हुए कि उन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय एवं उसका गुरुतर गुरुत्व सबकुछ एक झटके में ही निछावर कर दिया और स्वयं को दिगम्बर श्रावक के रूप में घोषित कर दिया तथा पिछला सबकुछ भूलकर निराकुल हो समयसार के स्वाध्याय में जुट गये।

धीरे-धीरे लोग उनसे समयसार सुनने आने लगे और वे लोगों को समयसार सुनाने लगे। यह क्रम ऐसा चला कि लगातार ४५ वर्ष तक चलता रहा और सोनगढ़ ही नहीं सम्पूर्ण देश समयसारमय हो गया। स्वामीजी ने लगातार १९ बार आद्योपान्त समयसार सभा में पढ़ा, उस पर प्रवचन किये। अन्तर में तो न मालूम कितनी बार पढ़ा होगा?

उनकी प्रवचन-सभा में यह नियम था कि वे जिस शास्त्र पर प्रवचन करते, प्रत्येक श्रोता के हाथ में वह ग्रन्थ होना ही चाहिए। तदर्थ समयसार छपाये गये। श्रोताजन बढ़ते गये और समयसार छपते गये। श्रोता भी लाखों हो गये और समयसार भी लाखों प्रतियों में छपकर जन-जन तक पहुँच गये। श्रोताओं में से साधक तो तैयार हुए ही, अनेक प्रवचनकार भी सहज ही तैयार हो गये। इसप्रकार एकाकी चल पड़े स्वामीजी के पीछे एक कारवाँ चल पड़ा और वह चलता ही रहा। स्वामीजी तो चले गये, पर कारवाँ आज भी चल रहा है और

न मालूम कब तक चलता रहेगा। हमारी भावना है कि यह कारवाँ सदैव चलता ही रहे, चलता ही रहे; कभी रुके ही नहीं।

इसप्रकार बिना प्रयास के अनायास ही स्वामीजी के माध्यम से इस विषम युग में भी आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी जन-जन तक पहुँच गई और पहुँच रही है। आज तो स्थिति यह है कि समयसार के पाठकों को बिना पूछे ही स्वामीजी का अनुयायी समझ लिया जाता है। उसके लाख इन्कार करने पर भी कोई यह मानने को तैयार नहीं होता कि स्वामीजी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई यह भी सिद्ध कर दे कि मैंने तो स्वामीजी को कभी देखा ही नहीं है; तो भी कहा जायेगा कि कानजीस्वामी नहीं तो उनके शिष्य-प्रशिष्य से तुम्हारा सम्बन्ध होगा।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति की सम्यक् समीक्षा करने पर एक तथ्य हाथ पर रखे आँवले के समान प्रतिफलित होता है कि कर्तृत्व के अहंकार से कुछ नहीं होता; जो कुछ होता है, वह सब सहजभाव से ही घटित होता है। कुन्दकुन्द की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का अहंकार करने वालों को एक बार अपना आत्मनिरीक्षण भी करना चाहिए कि क्या उन्हें स्वयं कुन्दकुन्द वाणी का सामान्य परिचय भी है, क्या उन्होंने कुन्दकुन्द के किसी ग्रन्थ का कभी आद्योपान्त स्वाध्याय भी किया है? उनकी वाणी के मर्म से सर्वथा अछूते लोगों के द्वारा उनकी वाणी के प्रचार-प्रसार की चर्चा कल्पनालोक की उड़ान ही सिद्ध होती है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि स्वामीजी द्वारा जो कुन्दकुन्द वाणी की गंगा का प्रबल प्रवाह चला, उसमें अवरोध पैदा करने वाले प्रयासों से जो कोलाहल उत्पन्न हुआ; उससे भी अनेक लोगों की निद्रा भंग हुई और वे भी जाग गये, तथा उन्होंने भी स्वामीजी के माध्यम से कुन्दकुन्द की वाणी का रहस्य जाना और वे भी कृतार्थ हुए।

"विरोध प्रचार की कुन्जी है" — इस सिद्धान्त के अनुसार स्वामीजी का विरोध करने वालों को भी कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार करने का कुछ

न कुछ श्रेय तो है ही, पर जो प्रबल प्रवाह आज कुन्दकुन्द वाणी का बह रहा है, उसके मूल में मूलत: स्वामीजी ही हैं। आज यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

स्वामीजी के माध्यम से न केवल कुन्दकुन्द का साहित्य छपा ही, परमागम मन्दिर के रूप में संगमरमर के पार्टियों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित भी हुआ; पर यह सब तो उनकी भाषा में जड़ की क्रिया है, सबसे बड़ा काम तो यह हुआ कि वह लाखों के मानस में समा गया; लोगों की बुद्धि में समा गया और हृदय में उतर गया। यह काम ऐसा है, जो सर्वसाधारण के वश की बात नहीं है।

कोई करोड़पति संकल्प करले तो लाखों समयसार छपा सकता है और नि:शुल्क घर-घर में भी पहुँचा सकता है; पर वह समयसार रद्दी के रूप में बाजार में बिकने आ जायगा; उसके पन्नों पर लोग चाट-चाट कर चाट खायेंगे।

जबतक लोगों में उसके पठन-पाठन की रुचि जागृत न हो, उसके प्रति बहुमान न जगे, उसमें मुक्ति की राह न दिखे, उसका रस न लगे; तबतक छपाने और नि:शुल्क बाँटने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

मूल बात तो प्यास जगाने की है। बिना प्यास के निर्मल-शीतल जल उपलब्ध होने पर भी कोई उसे छूता तक नहीं। स्वामीजी ने लोगों को समयसार की प्यास जगाई और ऐसी जगाई कि लोग समयसार का अमृतपान करने के लिए आतुर हो उठे, व्याकुल हो उठे। यही कारण है कि आज गाँव-गाँव में समयसार पढ़ा जा रहा, समयसार सुना जा रहा, समयसार के गीत गाये जा रहे; सम्पूर्ण वातावरण समयसारमय हो गया है।

स्वामीजी ने लोगों में समयसार की रुचि भी जगाई और उन्हें अल्पमूल्य में समयसार उपलब्ध भी कराया। यही कारण है कि वे कुन्दकुन्द की वाणी के साथ-साथ स्वयं भी लोगों के हृदय में समा गये। समयसार ने उन्हें सत्पथ बताया और उन्होंने समयसार जन-जन तक पहुँचाया तथा समयसार की नाव पर सवार होकर वे स्वयं जन-जन के हृदय में समा गये।

यह है स्वामीजी के जीवन का संक्षिप्त लेखा-जोखा, जो आज जन-जन की जबान पर अवस्थित है और युग-युग तक अवस्थित रहेगा।

उनके महान अपराजेय व्यक्तित्व पर कीचड़ उछालने के प्रयास भी कम नहीं हुए, पर वे सभी प्रयास चन्द्रमा पर थूकने के प्रयासों के समान ही सिद्ध हुए। जिसप्रकार कोई व्यक्ति चन्द्रमा पर थूकने का प्रयास करे तो उसके थूक का चन्द्रमा तक पहुँचना तो सम्भव नहीं है; अत: वह लौटकर उसी के मुख पर पड़ता। उसीप्रकार स्वामीजी के व्यक्तित्व को लांछित करने के सभी प्रयासों ने उन्हीं के व्यक्तित्वों को लांछित किया है, जिन्होंने इसप्रकार के प्रयास किये।

स्वामीजी ने तो इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे तो अपने में ही मग्न रहे, अपने अनुयायियों को ही सरलभाव से — सहजभाव से समझाते रहे; किसी से भी उलझे नहीं। उलझना-उलझाना उन्हें इष्ट भी न था, वे तो सुलझे हुए महापुरुष थे और जगत-जाल में उलझे हुए लोगों को सुलझाने ही आये थे, सो जीवन-पर्यन्त सुलझाते ही रहे। यदि वे उलझ जाते तो फिर हम जैसे अगणित लोगों को कैसे सुलझाते?

कुन्दकुन्दवाणी के आधार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी द्वारा सम्पन्न यह आध्यात्मिक क्रान्ति बिना किसी उखाड़-पछाड़ के, बिना किसी तनाव के इतने सहजभाव से सम्पन्न हुई कि लोक में इसकी मिसाल नहीं है। भारत के एकदम एक कोने में बैठकर प्रतिदिन मात्र स्वान्त:सुखाय दो प्रवचन और सायंकाल ४५ मिनट तक जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान — बस यही उपक्रम रहा है इस महान क्रान्ति का।

क्या कोई कल्पना कर सकता है कि आरम्भ में महीनों किसी की समझ में न आने वाले और प्रारम्भिक श्रोताओं के पूरी तरह समझ में न आने वाले प्रवचनों एवं सहजभाव से दिये गये प्रश्नों के उत्तरों के माध्यम से इतनी महान क्रान्ति सम्पन्न हो सकती है।

निरन्तर एक ही ध्वनि में त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की कथा करने एवं लगातार आत्मा के ही गीत गाते रहने की प्रबल शक्ति का ही यह अद्‌भुत विस्फोट है कि जिसने मिथ्या-अंधकार को भगा दिया है और जग को जगमगा दिया है।

निरन्तरता में अद्‌भुत शक्ति होती है और यदि वह परमसत्य के साथ जुड़ जाए तो उसका कहना ही क्या है? जगत ने न तो परमसत्य को ही पाया है

और न उसके प्रयासों में निरन्तरता ही देखने में आती है — यही उसकी असफलता का मूल आधार है। स्वामीजी की सफलता का राज परमसत्य की उपलब्धि, उसकी सतत आराधना और नियमित सतत प्रतिपादन ही है।

इस कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि यदि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी ने इस युग में कुन्दकुन्द वाणी का रहस्योद्घाटन नहीं किया होता तो हम जैसे अनेक पामर प्राणियों का क्या होता?

होता क्या, हम तुम भी शेष जगत के समान या तो विषय-कषाय में ही उलझे रहते या फिर कुछ क्रिया-काण्ड करके अपने को धर्मात्मा मान रहे होते और अन्य लोगों को भी उसी ओर प्रेरित कर रहे होते। यह अमूल्य मानव जीवन यों ही विषय-कषाय में बीत जाता।

पर इस असत् कल्पना से क्या लाभ है? सत्य तो यह है कि हम भी परम भाग्यवान हैं कि इस युग में पैदा हुए कि, जिसमें स्वामीजी के सत्समागम का लाभ भी मिला और उनके मुख से कुन्दकुन्द वाणी के रहस्यों को जानने का साक्षात् अवसर भी प्राप्त हुआ। न केवल इतना ही, अपितु उनकी भरपूर कृपा एवं मंगल आशीर्वाद भी सहज ही प्राप्त रहा; इससे भी आगे उनके पदचिन्हों पर चलकर उनके महान कार्य में अपना भी तुच्छ योगदान करने का संकल्प जगा, उसी में जीवन लगा और शेष जीवन भी तदर्थ ही समर्पित है।

हम ही नहीं, हम जैसे अनेकानेक आत्मार्थी भाई-बहिन हैं, जो आज कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में पूर्णत: समर्पित हैं। कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित कार्यकर्त्ताओं का निर्माण भी कुन्दकुन्द वाणी के प्रचार-प्रसार में स्वामीजी का अभूतपूर्व अद्भुत योगदान है; क्योंकि कार्यकर्त्ताओं के बिना जगत में कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। इसके लिए भी स्वामीजी का जितना उपकार माना जाय, कम ही है।

उनके शताब्दी वर्ष और दशवीं पुण्यतिथि के मंगल अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के प्रचार-प्रसार में उनके अभूतपूर्व अद्भुत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान को स्मरण करते हुए हम उन्हें शत्-शत् वंदन करते हैं, उनका शत्-शत् अभिनन्दन करते हैं। •

चतुर्थ स्मृति दिवस के अवसर पर —

श्री कान गुरु जाते रहे ?

(वीतराग-विज्ञान - नवम्बर, १९८४ में से)

जिसने बताया जगत को क्रमबद्ध है सब परिणमन।
परद्रव्य से है पृथक् पर हर द्रव्य अपने में मगन॥
स्वाधीन है प्रत्येक जन स्वाधीन है प्रत्येक कन।
गुरु कान का सन्देश धर लो कान जग के भव्यजन॥ १॥

जो एक शुद्ध सदा अरूपी आत्मगुण गाते रहे।
पर्याय से भी भिन्न जो निज द्रव्य समझाते रहे॥
गुण-भेद से भी भिन्न जो निज आत्मा ध्याते रहे।
वे भव्य-पंकज-भास्कर श्री कान गुरु जाते रहे॥ २॥

उनका बताया तत्त्व जग में आज भी जब गूँजता।
गुरु-गर्जनायुत वदन मन में आज भी जब घूमता॥
प्रत्येक दिन वे आज तक जब स्वप्न में आते रहे।
तब कौन कहता इस हृदय से कान गुरु जाते रहे॥ ३॥

भाई! भगवान भी दो तरह के होते हैं - एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन-भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा हैं, भगवान हैं, इन्हें कारणपरमात्मा कहा जाता है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-७४

६

हा गुरुदेव! अब कौन.....?

(आत्मधर्म दिसम्बर १९८० में से)

हे गुरुदेव! आपके इस आकस्मिक महाप्रयाण से लाखों आत्मार्थियों के हृदय व्याकुल हो उठे हैं। यह जानते हुए भी कि जो कुछ होना था, सो हो चुका, इस तथ्य को, पर्यायगत सत्य को स्वीकार करने के लिए हृदय तैयार नहीं है। आपने हमें आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों के साथ-साथ यह भी तो समझाया था कि कोई किसी को समझा नहीं सकता। समझाने के अभिमान से दग्ध वक्ता तो बहुत मिल जावेंगे, पर आत्मा समझ तो सकता है, समझा नहीं सकता; क्योंकि समझना उसका स्वभावगत धर्म है - यह समझाने वाला अब कहाँ मिलेगा?

आपके अभाव में आज हम सब अनाथ हो गए हैं। हजारों आत्मार्थी वर्ष भर यह आशा लगाए बैठे रहते थे कि श्रावण मास आयेगा, सोनगढ़ में शिविर लगेगा, हम वहाँ जायेंगे, और गुरुदेवश्री की पुरुषार्थप्रेरक दिव्यवाणी सुनेंगे। पर.....?

अब इस आर्थिक युग में धन को धूल कौन कहेगा? कौन गायेगा त्रिकाली आत्मा के गीत? पुण्य के गीत गाने वाले तो गली-ग़ली में मिल जावेंगे, पर धर्म का सच्चा स्वरूप डंके की चोट अब कौन बतावेगा? अब कौन लगावेगा आत्मा...आत्मा...आत्मा की पुकार? अब कौन समझायेगा समयसार का मर्म और कौन बतायेगा आत्मा का धर्म?

अब सोनगढ़ लोग किसके दर्शन करने, प्रवचन सुनने आवेंगे? हाँ, जिनमंदिर में विराजमान सीमंधर परमात्मा के, परमागम मंदिर में विराजमान

महावीर भगवान के, संगमरमर के पाटियों पर उत्कीर्ण पंच-परमागमों के, समवशरण मन्दिर के, मानस्तम्भ के दर्शन करने तो लोग अवश्य आवेंगे। आवेंगे तो अवश्य, पर तभी जब कि गिरनार या पालीताना की यात्रा पर जायेंगे। आवेंगे, पर रुकेंगे नहीं; क्योंकि आपके चले जाने से उन्हें रोकने वाला नहीं रहा। आपकी वाणी का आकर्षण ही तो उन्हें रोकता था, जब वह ही नहीं रहा तो क्या आकर्षण रहा लोगों के रुकने का?

श्रावण में यात्रा तो होती नहीं, श्रावण में तो लोग आपके आकर्षण से ही आते थे। अब वे कहाँ जायेंगे? उनका आश्रयदाता चला गया, अब वे किसका आश्रय पावेंगे?

जब प्रात: ८ और सायंकाल ३ बजेंगे, तब हम किसकी दिव्य-देशना सुनने दौड़े जावेंगे और संध्या के ७ बजे अपनी शंकाओं का समाधान किससे पावेंगे? ये तीनों समय क्या अब हमें काटने नहीं दौड़ेंगे?

विभिन्न प्रान्तों के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न भाषा-भाषी लोग आपके माध्यम से प्रान्तीयता, जातीयता और भाषावाद के बन्धनों को तोड़कर एक हो गये हैं। वे सब आपके माध्यम से जुड़े थे, जुड़े हैं; पर अब किस माध्यम से जुड़े रहेंगे? तोड़ने वाले तो पग-पग पर मिलेंगे, पर जोड़ने वाला कहाँ मिलेगा? अब कैसे जुड़ेंगे, कैसे जुड़े रहेंगे? - यह प्रश्न भी हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है?

अब कौन देगा हमें मार्गदर्शन, कौन बँधावेगा धीरज?

आपने लाखों आत्मार्थियों को घड़े जैसा गढ़ा है। जिसप्रकार कुम्हार कच्ची मिट्टी से घड़े को गढ़ता है, उसीप्रकार आपने हमें गढ़ा है। कुम्हार घड़े को गढ़ते समय ऊपर से धीमी-धीमी थाप मारता है तो अन्दर से हाथ का सहारा भी दिये रहता है, तब बनता है घड़ा। इसीप्रकार भटकते हुए आत्मार्थी को आपकी मीठी फटकार और अन्दर से दिया गया सहारा न तो उसे विचलित होने देता था और न प्रमादी ही। धनिकों को अभिमान न हो जाय - इस भावना से धन को धूल बताने वाली फटकार लाखों लोगों ने आपके मुख से सुनी है

तथा वह भटक न जाय इस भावना से की जाने वाली मृदुल अनुशंसा से भी सब परिचित हैं। क्षयोपशम ज्ञान के अभिमान में भी कोई रुक न जाय - तदर्थ उसकी असलियत से भी अब कौन परिचित करायेगा? तत्त्वप्रचार की दिशा में किये गये प्रयत्नों को भी अब कौन सराहेगा, कौन पीठ थपथपाएगा; मीन-मेख निकालने वाले तो बहुत मिलेंगे, पर सन्मार्ग दिखाकर प्रोत्साहित कौन करेगा ?

हजारों गालियाँ देने वाले विरोधियों के प्रति भी अब यह शब्द कौन कहेगा कि "भाई! वह भी तो भगवान हैं, पर्याय में भूल है तो क्या हुआ, वह तो निकल जाने वाली है।"

अब यह प्रेरणा कौन देगा कि - "आलोचना करनेवालों की ओर नहीं, अपनी ओर देखो।"

अब किसकी दिनचर्या को देखकर लोग अपनी घड़ियाँ मिलायेंगे? अब हम लोग किससे निश्चय की महिमा सुनेंगे और किसके व्यवहार को अपना आदर्श बनाएंगे?

अब कौन गायेगा निरन्तर आत्मा के गीत; कौन पहुँचाएगा अत्यल्प मूल्य में जिनवाणी घर-घर? अब कौन .....?

मेरे प्रिय आत्मार्थी बन्धुओ! सूरज डूब गया। पर अब क्या हो सकता है? वह तो डूब ही गया। अन्धकार, घना अन्धकार बढ़ता जा रहा है, वह तो बढ़ता ही जायेगा; पर हम सब अब भी क्यों सो रहे हैं, क्यों रो रहे हैं? यह सोने का समय नहीं, यह रोने का भी समय नहीं है।

जागो! उठो! इस घने अंधकार को दूर करने के लिए घर-घर में दीपक जलाओ, मसालें जलाकर निकल पड़ो और गलियों का, चौराहों का अंधकार दूर कर दो। पूज्य स्वामीजी से जो कुछ पाया है, उसे जन-जन तक पहुँचाने का महान उत्तरदायित्व आपके कंधों पर है। यह रोने का, सोने का, लड़ने का, झगड़ने का, उदासीन होकर घर बैठ जाने का समय नहीं है।

यह तो दुनियाँ की रीति है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है तो लोग घरों में दीपक जलाते ही हैं। गलियों और चौराहों पर भी समुचित प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। क्या तुम इस जग-रीत को भी न निभा सकोगे?

ध्यान रखो, यदि इस सामान्य जग-रीति का भी निर्वाह न कर सके तो इतिहास तुम्हें क्षमा नहीं करेगा। आज तुम्हारे कंधों पर ऐतिहासिक उत्तरदायित्व है; जो पाया है, उसे दूसरों तक पहुँचाने का; जो सीखा है, उसे जीवन में उतारने का।

औरों के समान तुम भी दो आँसू बहाकर, दो शब्द श्रद्धांजलि के समर्पित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मत समझ लेना।

नहीं, नहीं; ऐसा नहीं होगा। हम सब मिलकर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा आरंभ किये गये इस मिशन को आगे बढ़ायेंगे। इस भावना और संकल्प के साथ -

वास्तविक कर्त्तव्य

सामाजिक संगठन और शान्ति बनाए रखना और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त प्रगतिशील समाज की स्थापना ही तो इस बहुमूल्य नरभव की सार्थकता नहीं है; इस मानव जीवन में तो आध्यात्मिक सत्य को खोजकर, पाकर, आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना ही वास्तविक कर्त्तव्य है।

आध्यात्मिक सत्य में भी पर्यायगत सत्य को जानना तो है, पर उसमें उलझना नहीं है, उसे तो मात्र जानना है; पर त्रैकालिक परमसत्य को, परमतत्त्व को मात्र खोजना ही नहीं है, जानना भी है, उसी में जमना है, रमना है, उसी में समा जाना है, उसीरूप हो जाना है।

सत्य की खोज, पृष्ठ-२५२

७

सूरज डूब गया

(आत्मधर्म जनवरी १९८१ में से)

पूज्य गुरुदेवश्री के निधन से लाखों आत्मार्थियों के हृदय-कमलों को खिला देने वाला, मोह-तिमिर को हटा देने वाला, प्रकाशपुंज सम्यग्ज्ञान का सूरज डूब गया है।

सूरज तो संध्या को डूबता है, पर प्रात:काल फिर उग आता है; किन्तु यह सूरज तो डूबा, सो डूबा। अब ऐसा प्रात:काल कभी न होगा, जब हमें इस प्रतापवंत-प्रकाशपुंज सूरज के दर्शन हो सकेंगे।

यद्यपि उनके देहावसान की तुलना इस अर्थ में सूर्यास्त से नहीं की जा सकती, तथापि उस अनुपम ज्ञान के घन-पिण्ड और आनन्द के कन्द की उपमा आखिर दें तो किससे दें? एक सूरज ही तो ऐसा है, जिससे इस प्रकाशपुंज की तुलना की जा सकती है।

स्वामीजी के प्रताप और प्रकाश दोनों ही सूरज के प्रकाश और प्रताप से किसी प्रकार कम न थे। स्वामीजी भी अपने क्षेत्र के एक सूरज ही तो थे।

सूर्य की प्रभा तो इस लौकिक अंधकार को ही दूर करती है, पर आपकी ज्ञानप्रभा ने - वाणीरूपी किरणों ने तो आत्मार्थी जिज्ञासुओं के हृदयों के अज्ञानान्धकार को दूर किया है। लोकान्धकार दूर करने वाला यह सूर्य तो लौकिक है, पर आप तो लोकोत्तर मार्ग में व्याप्त अंधकार के विनाशक थे, अत: आप अलौकिक सूर्य थे।

जिसप्रकार सूर्य का प्रताप और प्रकाश गहरी गुफाओं के निविड़ अंधकार को भी चीरता हुआ उनके अन्तिम छोर को भी पा लेता है। यद्यपि सूर्य का

प्रकाश व प्रताप खुले मैदान में अपनी जैसी प्रभा बिखेरता है, वैसी प्रभा गहन गुफाओं में नहीं दिखाई देती; तथापि गहन गुफा के अन्तिम कोने में भी यह तो परिलक्षित हो ही जाता है कि अभी दिन है; दिनकर की आभा वहाँ भी पहुँच ही जाती है।

उसीप्रकार हे गुरुदेव! आपके प्रभाव और प्रताप ने उन लोगों के हृदय और बुद्धि को तो आलोकित किया ही है, जो खुले मैदानों के समान खुले दिमाग के लोग थे; पर साथ में उन लोगों को भी प्रभावित किया है, जो आपसे किसी कारण असहमत थे, विरोध भाव रखते थे या फिर गहन अंधकार में थे।

जिसने जीवनभर आपका विरोध किया - ऐसा जैनगजट (९-१२-१९८०) पत्र भी आपके निधन पर अपने सम्पादकीय में लिखता है —

"उन्होंने अपने जीवन में करीब ६५ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा व ३५ वेदी-प्रतिष्ठायें करवाईं और श्वेताम्बर बन्धुओं को दिगम्बरी बनाया। समयसार व मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे ग्रन्थों के पठन-पाठन की लहर समाज में दौड़ाई तथा स्वाध्याय के प्रचार का बिगुल बजा दिया। विरोध होता रहा, लेकिन विरोध को सहते हुए दिगम्बर धर्म के प्रचार या प्रसार में किसी भी प्रकार की कसर उठा नहीं रखी।

आबाल-वृद्धों में दिगम्बर धर्म का प्रचार किया और रात्रिभोजन, जमीकन्द आदि का त्याग उनके प्रभाव से स्वत: उनके अनुयायी करते गए।

देश में सोनगढ़ एक प्रकार का प्रसिद्ध स्थान बन गया, जहाँ से उन्होंने जिनवाणी का तन-मन से जीवनपर्यन्त साधना करने के साथ ही साथ देश में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचार किया। शिक्षण-शिविर के द्वारा एक नई दिशा देकर धर्मप्रचार की एक अद्‌भुत योजना समाज को दी।

प्राय: यह देखा गया है कि सम्प्रदाय बदलने वाले अन्त में पथभ्रष्ट भी होते रहे हैं; लेकिन स्वामीजी सदा लोहपुरुष बनकर रहे।

स्वामीजी के उठ जाने से वास्तव में एक महान् प्रतिभासम्पन्न व पुण्यात्मा आध्यात्मिक वक्ता का सदा के लिए अभाव हो गया है।

गजट परिवार भी उनके देहावसान पर अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ वीर प्रभु से प्रार्थना करता है कि स्वामीजी को पूर्ण रत्नत्रय की प्राप्ति होकर शीघ्र मुक्ति लाभ हो।"

और भी अनेक इसप्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इससे सिद्ध है कि आपकी पहुँच प्रतिकूलों पर भी थी।

यद्यपि वे चले गए हैं; तथापि उन्होंने अपने जीवन में जो अभूतपूर्व कार्य किये, वे आज भी विद्यमान हैं, उनका दिया हुआ तत्त्व आज भी उनके चेतन शिष्यवर्ग और अचेतन साहित्य के रूप में हमें उपलब्ध है। इस रूप में वे अमर हैं, आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

यद्यपि तारे दिन में भी होते हैं, तथापि सूरज की उपस्थिति में वे चमकते नहीं, दिखाई नहीं देते। पर जब सूरज डूब जाता है, तो वे दिखाई देने लगते हैं। जगत का ध्यान भी तभी उनकी ओर जाता है।

पर क्या वे तारे सूरज-सा प्रकाश दे पाते हैं? नहीं, कदापि नहीं।

यद्यपि यह बात पूर्णत: सत्य है कि वे सूरज-सा आलोक नहीं बिखेर पाते; तथापि यह भी सत्य है कि घना अंधकार भी नहीं होने देते। वे भी कुछ न कुछ आभा बिखेरते ही हैं। उनके प्रकाश में मात्र मार्ग देखे जा सकते हैं, गलियाँ देखी जा सकती हैं, पढ़ा नहीं जा सकता, पढ़ने के लिए दीपक जलाने पड़ते हैं। पर जगत का काम रुकता नहीं, कुछ काम तारों के प्रकाश में होता है, कुछ काम दीपकों के प्रकाश में होता है। काम चलता ही रहता है।

हमारा भी कर्त्तव्य है कि काम रुकने न दें, चालू रखें।

सूरज डूब गया। डूब गया, सो डूब ही गया। अब क्या किया जा सकता है? सूरज का उगाना तो तत्काल संभव नहीं है। उसके लिये तो कुछ काल प्रतीक्षा ही करनी होगी; क्योंकि सूरज तो जब उगता है, स्वयं उगता है; उगाने से नहीं उगता। पर प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ रखकर तो नहीं बैठा जा सकता। हमें चमकते तारों की प्रभा से मार्गदर्शन प्राप्त करना होगा, घर-घर में दीपक जलाने होंगे और पूरी शक्ति से अंधकार का मुकाबला करना होगा। जो ज्योति गुरुदेवश्री ने जलाई है, उसे जलाये रखना होगा।

जब हमारे घर में किसी बुजुर्ग का देहावसान हो जाता है, तो घर वाले रोते हैं, बिलखते हैं; आगन्तुक आते हैं और समझाते हैं, समझाकर चले जाते हैं; परन्तु घर का काम घर वालों को ही संभालना पड़ता है, समझाने वाले नहीं संभालते। काम समझने वालों को संभालना होगा, समझाने वालों को नहीं। समझाने वाले तो समझाकर चले जावेंगे, पर ·····।

गुरुदेवश्री का अवसान किसी एक घर के बुजुर्ग का अवसान नहीं है। वे हम सभी के धर्मपिता थे। उनका अवसान हम सबके धर्मपिता का अवसान है; इस बात का अनुभव हम सब को करना होगा। कहीं ऐसा न हो जाय कि आप समझाने वाले बन जायें और समझाकर चलते बनें। हम सब उनके उत्तराधिकारी हैं; अत: उनके वारसे को संभालने का उत्तरदायित्व भी सभी का है। पर भाई! उत्तरदायित्व किसका? जो समझे, अनुभव करे, उसका; जो अनुभव ही न करे, उसको क्या कहें?

यह समय दूसरों को उपदेश देने का नहीं, आरोप-प्रत्यारोप लगाने का भी नहीं, मिलजुलकर काम करने का है। यह समय चुनौती का समय है, जिसे हमें और आपको मिलकर स्वीकार करना है।

आओ, हम सब मिलकर संकल्प करें, सन्नद्ध हों और एक मन से - एक मत से जुट जायें तथा बता दें कि गुरुदेवश्री का अवसान नहीं हुआ है। वे अपने अनुयायियों के रूप में, वाणी के रूप में, आज भी विद्यमान हैं और उनके द्वारा आरम्भ किया गया मिशन उसी जोर-शोर के साथ चल रहा है, बढ़ रहा है, बढ़े चल रहा है। •

प्रशंसा मानव-स्वभाव की एक ऐसी कमजोरी है कि जिससे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं बच पाते हैं। निन्दा की आँच भी जिसे पिघला नहीं पाती, प्रशंसा की ठंडक उसे छार-छार कर देती है।

आप कुछ भी कहो, पृष्ठ-६८

अब क्या होगा?

(आत्मधर्म फरवरी १९८१ में से)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के देहावसान के बाद 'अब क्या होगा?' यह प्रश्न आज सभी की जबान पर है। यह ज्वलन्त प्रश्न उनके हृदयों को तो आन्दोलित किये ही है, जो उनमें अगाध श्रद्धा रखते थे, उनके अनुगामी थे; पर मध्यस्थ एवं प्रतिकूलजन भी टकटकी लगाकर देख रहे हैं कि देखें अब क्या होता है? कोई कहे; चाहे न कहे, पर ·····।

हमारे कार्यालय में सैकड़ों पत्र इसप्रकार के आये हैं, जिनमें इसप्रकार की जिज्ञासा प्रगट की गई है। कुछ लोगों ने तो अनेक प्रकार के सुझाव भी दिये हैं, आशंकायें प्रगट की हैं, उपदेश भी दिये हैं, आदेश भी दियें हैं। चर्चाओं में, पत्रिकाओं में, श्रद्धांजलियों में, संस्मरणों में भी इसप्रकार के भाव प्रगट किये गये हैं।

सब कुछ मिलाकर यही प्रतीत होता है कि समाज के सामने स्वामीजी के अभाव से हुई रिक्तता मुँह बाए खड़ी है, जिसकी पूर्ति असंभव दिखाई दे रही है और यह प्रश्न समाज को मथे डाल रहा है कि 'अब क्या होगा?'

बात दूसरों की ही नहीं, हम सबकी भी तो यही स्थिति है। पर बात यह है कि जो हो गया, सो तो हो ही गया, अब उसे बदलना सम्भव है नहीं। गुरुदेवश्री के स्थान की पूर्ति की कल्पना भी काल्पनिक ही है; क्योंकि उनके स्थान की पूर्ति भी मात्र वे ही कर सकते थे। गुरुदेव तो गए, न तो उन्हें वापिस ही लाया जा सकता है और न नए गुरुदेव ही बनाए जा सकते हैं। **गुरुदेव बनते हैं, बनाए नहीं जाते। जो बनाने से बनते हैं, या बनाये जाते हैं, वे गुरु नहीं, महंत होते हैं, मठाधीश होते हैं। उनसे गुरुगम नहीं मिलता, गुरुडम चलता है।**

जिन गुरुदेवश्री ने जीवनभर गुरुडम का विरोध किया, उनके नाम पर गुरुडम चलाना न तो उपयुक्त ही है और न उन्हें भी इष्ट था, होता तो अपने उत्तराधिकारी की घोषणा वे स्वयं कर जाते। उनके जीवनकाल में भी जब उनसे इसप्रकार की चर्चायें की गईं तो उन्होंने उदासीनता ही दिखाई।

अत: उनके रिक्तस्थान की पूर्ति की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। रहा प्रश्न उनके द्वारा या उनकी प्रेरणा से संचालित तत्त्वप्रचार की गतिविधियों के भविष्य का। सो भाई, पिता के देहावसान होने पर उनके लगाए कारखाने बन्द नहीं होते, अपितु एक के अनेक होकर और अधिक द्रुतगति से चलते हैं। जब दो-चार पुत्रों के होने मात्र से ये कल-कारखाने द्विगुणित-चतुर्गुणित होकर चलते हैं, तो जिस धर्मपिता ने चार लाख से भी अधिक धर्म संतानें छोड़ी हों, उसके चलाए कार्यक्रम कैसे बन्द हो सकते हैं? वे तो शतगुणित-सहस्रगुणित होकर चलने चाहिये और चलेंगे भी। इसमें आशंकाओं के लिए कोई अवकाश नहीं है।

सोनगढ़ में ही नहीं, अपितु सारे देश में अब भी वैसे ही शिविर लगेंगे जैसे कि गुरुदेवश्री की उपस्थिति में लगते थे। वैसा ही साहित्य प्रकाशित होगा और कम से कम मूल्य में उपलब्ध कराया जायेगा, जैसा कि गुरुदेवश्री के सद्भाव में होता था। और भी सभी कार्यक्रम अब भी उसीप्रकार संचालित होंगे, जिसप्रकार कि तब चलते थे।

याद रखो, यदि ऐसा नहीं हुआ तो हम सब उन्हीं कुपुत्रों में गिने जावेंगे, जो कि पिता के द्वारा छोड़ी संपति को बढ़ाते नहीं, अपितु बर्बाद कर देते हैं। अब हमें गुरुदेव की ओर नहीं, अपनी ओर देखना है और यह सिद्ध करना है कि हम अपने धर्मपिता के कपूत नहीं, अपितु सपूत हैं। क्या कमी है आज हमारे पास? धनबल, जनबल, बुद्धिबल - सभी कुछ तो है। कुछ भी तो नहीं ले गये वे, सबकुछ यहीं तो छोड़ गए हैं, हमारे लिये। जब उन्होंने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया था, तो आत्मबल के अतिरिक्त क्या था उनके पास? पर **अकेले उन्होंने एक टेकरी को तीर्थ बना दिया, देशभर में धर्म का डंका**

बजा दिया। क्या हम सब मिलकर भी उनकी थाती को न संभाल सकेंगे? हम सबके समक्ष यह एक चुनौती है। इस चुनौती को आज हमें स्वीकार करना है।

हम उन गुरु के शिष्य हैं जिन्होंने कभी पर की ओर नहीं देखा, मुड़कर पीछे नहीं देखा, जिन्होंने मात्र स्वयं को देखा और स्वयं के बल पर ही चल पड़े। **वे जहाँ खड़े हो गये, वह स्थान तीर्थ बन गया; वे जिधर चल पड़े, उधर लाखों लोग चल पड़े। वे भागीरथ थे, जो अपने भागीरथ पुरुषार्थ द्वारा अध्यात्म-भागीरथी को हम तक लाये और जिन्होंने सारे जगत को उसमें डूबकी लगाने के लिए पुकारा।** हम भी कुछ कम नहीं, उस भागीरथी की निर्मल जलधारा को हम जन-जन तक पहुँचायेंगे। **वे अकेले थे, पर तूफान थे;** हम चार लाख से भी अधिक हैं, पर वह तूफानी वेग हममें कहाँ? न सही तूफानी वेग से, पर चलेंगे तो हम भी....।

'अब क्या होगा?' पूछने वालों को हम विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वही होगा जो गुरुदेवश्री ने बताया है, चलाया है, जो अभी चलता है, अभी तक चलता रहा है, वह अब भी चलता रहेगा। उसीप्रकार चलता रहेगा, उसमें कोई कमी नहीं आयेगी, हो सकता है कि उसकी चाल में और भी तेजी आ जावे। पर भाई.... गुरुदेव तो गये सो गये, उन्हें तो कहाँ से लायें?

पर एक बात यह भी तो है कि हम जिस युग में पैदा हुए हैं, वह युग लाख बुरा हो, पर इसमें वे सुविधायें हैं, जो महावीर के, कुन्दकुन्द के, अमृतचन्द्र के जमाने में नहीं थीं। आज गुरुदेव के हजारों घण्टों के टेप हमारे पास हैं, जिन्हें हम कभी भी उन्हीं की आवाज में सुन सकते हैं; घण्टों के उनके बी.डी.ओ. टेप (बोलती फिल्म) हैं, जिनके माध्यम से हम गुरुदेवश्री को चलते-फिरते देख सकते हैं, बोलते हुए देख सकते हैं, सुन सकते हैं; बस, वे सदेह-सचेतन हमारे पास नहीं है, पर महावीर की, कुन्दकुन्द की, अमृतचन्द्र की तो आवाज भी हमारे पास नहीं, चित्र भी हमारे पास नहीं, चलती-फिरती, बोलती फिल्म की बात तो बहुत दूर की कल्पना है।

इस अर्थ में हम बड़े भाग्यशाली हैं। अब तक तो हमें उनका साक्षात् लाभ मिलता था, पर अब हमें एकलव्य बनना होगा। उनके अचेतन चित्रों से, साहित्य से, टेप से, चेतन शिष्यों से देशना प्राप्त करनी होगी।

'अब क्या होगा?' होगा क्या? दुनिया तो अपनी गति से चलती ही रहती है, वह तो कभी रुकती नहीं। बड़े-बड़े लोग आये और चले गये, पर यह दुनिया तो निरन्तर चल ही रही है, इसकी गति में कहाँ रुकावट है? जगत की बात ही क्यों सोचते हो? यह सोचो न कि हम सबको भी तो एक दिन इसीप्रकार चले जाना है।

'अब क्या होगा?' इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति को तोड़ो न! छोड़ो न इस व्यर्थ के विकल्प को और चल पड़ो उस रास्ते पर जो गुरुदेवश्री ने बताया है और जगत को बताओ वह रास्ता जो गुरुदेवश्री ने आपको - हम सबको बताया है।

भगवान महावीर के चले जाने पर गौतम गणधर रोने नहीं बैठे थे, अपितु महावीर की बताई राह पर चलकर स्वयं महावीर (सर्वज्ञ) बन गये थे। यदि हम गुरुदेवश्री के सच्चे शिष्य हैं तो हमें गुरुदेवश्री के चले जाने पर वही राह अपनानी चाहिए, जो महावीर के अन्यतम शिष्य गौतम ने अपनाई थी।

गुरुदेवश्री के अभाव में उदासी तो सहज है, पर निराशा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उठो! मन को यों निराश न करो और चल पड़ो उस राह पर..... । बातों से नहीं, आवो! हम सब मिलकर अपने कार्यों से दुनिया को इस प्रश्न का उत्तर दें, दुनिया की इस शंका का समाधान प्रस्तुत करें कि 'अब क्या होगा?' •

आत्मा के अनुभव की बात ही मुख्य है। जिस प्रवचनकार के प्रवचन में आत्महित की प्रेरणा न हो, आत्मानुभव करने पर बल न हो; वह जिनवाणी का प्रवचनकार ही नहीं है। सीधी सरल भाषा में भगवान आत्मा की बात समझाना, भगवान आत्मा के दर्शन करने की प्रेरणा देना, अनुभव करने की प्रेरणा देना, आत्मा में ही समा जाने की प्रेरणा देना ही सच्चा प्रवचन है।

गागर में सागर, पृष्ठ ३७-३८

निराश होने की आवश्यकता नहीं है

(जैनपथप्रदर्शक, पूज्य कानजी स्वामी स्मृति विशेषांक, १६ नवम्बर १९८१ से)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी यद्यपि आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनका अद्‌भुत व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व आज भी हमारा पथ आलोकित कर रहा है।

वे ऐसे अद्‌भुत व्यक्तित्व के धनी थे कि जो व्यक्ति एकबार भी उनके सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रहा। सम्बोधनों से संयुक्त उनकी वज्रवाणी में ऐसा जादू था कि जो सुनता, वही डोलने लगता था। बुद्धि को विचार के लिये मजबूर कर देने वाली उनकी वज्रवाणी अपने स्नेहसिक्त मृदुल सम्बोधनों से हृदय को भी आन्दोलित कर देती थी।

पुण्य और पवित्रता का ऐसा सहज संयोग कलिकाल में सहज ही सम्भव नहीं है। जिनके जीवन में पवित्रता पाई जाती है, कोई उनकी बात नहीं सुनता और जिनके समक्ष लाखों मानव झुकते हैं, जिनको सर्व सुविधायें सहज उपलब्ध हैं; वे पवित्रता से बहुत दूर दिखाई देते हैं। **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी में पुण्य और पवित्रता का सहज संयोग था, उनमें सोना सुगन्धित हो उठा था।**

वे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। एक ओर जहाँ स्वच्छ शुभ्र श्वेत परिधान से ढकी हरदम गोरी-भूरी विराटकाया, उस पर उगते सूर्य-सा प्रभासम्पन्न उन्नत भाल तथा कभी अन्तर्मग्न गुरुगम्भीर एवं कभी अन्तर की आनन्द-हिलोर से खिलखिलाता गुलाब के विकसित पुष्प सदृश ब्रह्मतेज से दैदीप्यमान मुखमण्डल व्याख्यान में उनकी वाणी से कुछ भी न समझने वाले हजारों श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किये रहता था; वहीं दूसरी ओर स्वभाव से सरल,

संसार से उदास, धुन के धनी, निरन्तर आत्मानुभव और स्वाध्याय में मग्न, सबके प्रति समताभाव एवं करुणाभाव रखनेवाले, विनम्र, पर सिद्धांतों की कीमत पर कभी न झुकने वाले, अत्यन्त निस्पृही एवं दृढ़ मनस्वी, गणधर जैसे विवेक के धनी, वज्र से भी कठोर, पुष्प से भी कोमल उनका आन्तरिक व्यक्तित्व बड़े-बड़े मनीषियों के आकर्षण का केन्द्र बना रहता था।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी वाणी पुस्तकों के रूप में ही नहीं, उनकी आवाज टेपों में हमें उपलब्ध है। व्यक्ति वाणी से ही सब-कुछ नहीं कहता, उसकी मुद्रा, उसके हाव-भाव भी बहुत कुछ कहते हैं। भावों के सम्प्रेषण में अकेली वाणी की ही आवश्यकता नहीं होती, अपितु उसके साथ-साथ हाव-भावों का भी अपना एक महत्व होता है। स्वामीजी की बात भी उनकी वाणी के साथ-साथ उनके हाव-भावों से भी व्यक्त होती थी।

जिन लोगों ने गुरुदेवश्री को वर्षों सुना है, उनके प्रवचनों का लाभ उठाया है, उन्हें निकट से देखा है, उन्हें तो उनके टेपों से पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सकता है; क्योंकि उनकी वाणी सुनकर वे सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि यह बात कहते समय गुरुदेवश्री की मुखमुद्रा इसप्रकार की रही होगी। पर वे लोग क्या करें, जिन्होंने अपने अभाग्य से प्रवचनों को साक्षात् उनके मुख से नहीं सुना है, उनके समागम का लाभ जिन्हें प्राप्त नहीं हुआ है,उन लोगों के लिये भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम उस युग में पैदा हुये हैं कि जिसमें वी.डी.ओ. टेपों द्वारा हम गुरुदेवश्री को चलते-फिरते, प्रवचन करते देख सकते हैं, सुन सकते हैं। भगवान महावीर या कुन्दकुन्दाचार्य के युगों की अपेक्षा यह युग लाख बुरा हो, पर इस दृष्टि से तो अच्छा ही कहा जायेगा कि आज हमें भगवान महावीर एवं कुन्दकुन्दादि आचार्यों के चलते-फिरते बोलते वास्तविक चित्र भी उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी वी.डी.ओ. टेपों के माध्यम से उपलब्ध हैं। यह सहज सुविधा जो हमें प्राप्त हुई है, इसका भरपूर लाभ उठाना है। ●

१०

आत्मधर्म के आद्य सम्पादक

(जैनपथप्रदर्शक के, श्री रामजीभाई जन्म शताब्दी विशेषांक, १ अगस्त, १९८२ में से)

आत्मधर्म के आद्य सम्पादक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के आजीवन अध्यक्ष आदरणीय विद्वद्वर्य श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी आगामी गणेश चतुर्थी (भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी) को अपनी इस मनुष्य पर्याय के ९९ वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। यदि गर्भ के भी ९ माह गिन लिए जावें तो सौ वर्ष पूरे होने में मात्र तीन माह शेष रहे हैं।

एक तो जनसामान्य का इस आयु को स्पर्श कर पाना ही सहज सम्भव नहीं है; यदि कोई भाग्यशाली इतनी उम्र पा भी ले तो भी इस उम्र में इतनी सक्रियता, सजगता, पाँचों इन्द्रियों एवं मन की ऐसी निरोगता की उपलब्धि असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है; जैसी कि आदरणीय बापूजी श्री रामजीभाई में इस उम्र में भी पाई जाती है।

यदि कोई अन्य उल्लेखनीय गुण न भी हो, तो भी सौ वर्ष की आयु की उपलब्धि, अकेली स्वयं उल्लेखनीय है, चर्चनीय है, अभिनन्दनीय भी है; फिर बापूजी श्री रामजीभाई में तो साथ में अनेक अभिनन्दनीय, उल्लेखनीय विशेषताएँ भी हैं। अत: उनका जन्म शताब्दी महोत्सव जितना भी अधिक उत्साह के साथ मनाया जाय, कम है। काश! हम इसे और भी विशाल पैमाने पर मना सकते तो कितना अच्छा होता। अस्तु .....।

यद्यपि उन्हें इसप्रकार के उत्सवों, अभिनन्दनों की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है — यह बात मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ; तथापि इसप्रकार के आयोजनों की आवश्यकता से, उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि इसप्रकार के प्रसंग पर पूज्य गुरुदेवश्री भी विद्यमान होते तो कुछ बात ही और होती।

आदरणीय बापूजी 'सादा जीवन एवं उच्च विचार' के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं। सोनगढ़ में आप उनके निवास स्थान को देखिए। आपको विश्वास ही न होगा कि इस तेजस्वी कर्मठ महापुरुष का आवास यही है। न पलंग, न सोफासेट, न कुर्सी और न टेबल-सी दिखने वाली टेबल। बस! एक साधारण-सी खटिया, दो मुड्ढे, एक चटाई और १.५ × २.५ की एक छोटी-सी टेबल। स्वाध्याय के लिए कुछ समयसारादि जैसे ग्रन्थराज, परिग्रह के नाम पर मात्र इतना ही।

पहिनावा की भी क्या बात करें? बिना प्रेस किए मोटी खादी की धोती, कुर्त्ता, टोपी तथा बाबा आदम के जमाने की एकाध जाकिट ..... बस!

क्या कहा आपने? फिर आगन्तुकों को कहाँ बिठाते होंगे?

चटाई पर।

क्यों?

क्योंकि उनके पास आते हैं मात्र उनसे तत्त्वचर्चा करनेवाले जिज्ञासु लोग। उन्हें बिठाने के लिए उच्चासन की क्या आवश्यकता है? वे तो सबके बापूजी हैं न? देश को एक बापू मिला था, जिसका नाम था महात्मा गाँधी, मोहनचन्द करमचन्द गाँधी। सोनगढ़ के श्रद्धालुओं को भी एक बापू मिल गये हैं, जिनका नाम है, रामजीभाई माणेकचन्द दोशी। खान-पान। खान-पान की क्या बात करना? पचासों वर्षों से जिसने न कभी चीनी चखी है और न कभी गुड़। रूखी-सूखी रोटी-दाल-साग, बस यही भोजन है इस महापुरुष का।

अपने ध्येय को कभी न भूलनेवाले बापूजी का हृदय नारियल के समान बाहर से कठोर दीखने पर भी अन्दर से कोमल है। एकबार सिद्धक्षेत्र गिरनार के एक केस की फाइल उन्हें दिखाने कुछ समाज के नेता उनके पास गये। उनसे विनयपूर्वक आग्रह करके फाइल का अध्ययन कर सलाह देने का निवेदन किया।

पर उन्होंने गुस्से में फाइल फेंक दी और बोले — "क्या मैंने इसलिए वकालत छोड़ी है? मैंने तो समयसारादि ग्रन्थराजों के स्वाध्याय के लिए वकालत छोड़ी है, न कि ....."

जब वे लोग चले गये तो उन्होंने फाइल मंगाई, उसका गहरा अध्ययन किया और उचित सलाह भी दी। यह भी कहा जाता है कि उनकी सलाह के अनुसार केस लड़ने पर जीत भी हुई। पर जब उनसे एकान्त में पूछा गया कि जब आपको सलाह देनी ही थी, तब आपने ऐसा व्यवहार ही क्यों किया?

तब वे समझाते हुए बोले — "यदि ऐसा व्यवहार नहीं करता तो फिर यहाँ भी केसों का ताँता लग जाता। जिस झँझट को छोड़कर आया हूँ, फिर उसी में उलझ जाता। उन्हें तो सलाह देनी ही थी, आखिर अपना तीर्थराज है, उसे तो बचाना ही था; पर आगे का इन्तजाम भी तो करना था।"

उनकी सहृदयतापूर्ण कठोरता का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है?

वे सोनगढ़ के भीष्मपितामह हैं। छोटी-मोटी बातों से उदासीन, उनमें न उलझने वाले; पर पूज्य गुरुदेवश्री के बाद सोनगढ़ की मूलधारा के सबल संरक्षक के रूप में उनकी उपस्थिति सभी को छत्रछाया प्रदान करती है।

वे सोनगढ़ के सजग प्रहरी हैं। उनकी दबंग पहरेदारी में सोनगढ़ आज तक सबप्रकार से सुरक्षित रहा है। कहा जाता है कि जब स्वामीजी ने सत्यधर्म अपनाया, तब उनके पास काठियावाड़ के दो शेर आये थे। उनमें से प्रथम थे, हमारे बापूजी रामजीभाई माणेकचन्द दोशी; जिनके पौरुष की छत्रछाया में सोनगढ़ स्वर्णपुरी बनकर फला-फूला, चमका और तीर्थ बन गया। उसे तीर्थ बनानेवाला तो पूज्य गुरुदेवश्री का पुण्यप्रताप ही है, पर बापूजी के सबल संरक्षण का भी उसमें महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वैसे तो विकास के आरम्भ से ही सोनगढ़ को बापूजी की पहरेदारी का लाभ प्राप्त रहा है, तथापि मैंने भी इस सजग प्रहरी को विगत छब्बीस वर्षों से लगातार हाथ में छड़ी लिए हुए, सोनगढ़ में पहरा देते हुए अपनी आँखों से देखा है। 'भगवान आत्मा' की पुकार करनेवाले, 'भगवान आत्मा' के ही गीत गानेवाले, हर आनेवाले को 'भगवान आत्मा' कहकर पुकारनेवाले दिव्यात्मा पूज्य गुरुदेवश्री महाप्रयाण कर गये; तो मानो सोनगढ़ की आत्मा ही

चली गई, टेकरी को तीर्थ बना देनेवाली महानिधि चली गई; पर यह सजग प्रहरी आज भी वहीं अपनी धुनी रमाये बैठा है, पहरा दे रहा है; वहाँ से हिल भी नहीं रहा है।

उनके रौबीले व्यक्तित्व, सतेज दृष्टि एवं दबंग आवाज के सामने किसी को सिर उठाने की हिम्मत नहीं होती। शताधिक झुर्रियों से आवेष्ठित चेहरा, विशाल डील-डौल एवं गजगंभीर चाल को देखकर सहज अनुमान किया जा सकता है कि वे अपनी जवानी के दिनों में कैसे रहे होंगे?

प्रमाद, प्रमाद तो उनके पास भी नहीं फटकता। वे आज भी दिन में तीन बार गुरुदेवश्री के टेप प्रवचनों, गुरुदेवश्री के आवास में उपस्थित होते हैं; जिसप्रकार कि वे गुरुदेवश्री की उपस्थिति में उपस्थित होते थे।

गणेश चतुर्थी को जन्मे इस सोनगढ़ के गणेश की हम क्या-क्या विशेषताएँ गिनाएँ? पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी में उनकी अटूट आस्था एवं विश्वास था और आज भी है। — यही कारण है कि वे उनकी प्रत्येक बात को शिरोधार्य करते, शिर नवाकर स्वीकार करते। पू. गुरुदेवश्री को भी उनकी आस्था, बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति एवं कर्मठता पर पूरा विश्वास था। यही कारण है कि वे तात्त्विक प्रश्नों का उत्तर तो स्वयं देते थे, पर जब कोई व्यक्ति उनसे व्यवस्था संबंधी बात कहता तो छूटते ही उत्तर देते कि 'रामजी भाई जानें'।

पूज्य गुरुदेवश्री ने उन पर जो विश्वास व्यक्त किया है, उसे उन्होंने आज तक निभाया है और आजीवन निभाते भी रहेंगे। जब नन्दीश्वर जिनालय और वचनामृत भवन के निर्माण की बात चली तो उन्होंने दृढ़ता से कहा कि जिसकी नींव गुरुदेवश्री के समक्ष पड़ गई, वह तो बन के रहेगा। अब तो उन्होंने हर विवाद के मुद्दे को सुलझाने का एक फार्मूला ही बना लिया है कि जो काम गुरुदेवश्री की उपस्थिति में जैसा चलता था, वैसा ही अब भी चलना चाहिए।

मात्र दो-तीन माह पहले की ही बात है कि बम्बई शिविर के अवसर पर ६-५-८२ को जब मैं और श्री नेमीचंदजी पाटनी उनसे मिलने गये तथा हिन्दी आत्मधर्म के प्रकाशन आदि के संबंध में अपनी समस्यायें उनके सामने रखीं,

तो वे छूटते ही बोले — "जैसा गुरुदेवश्री कर गये हैं, वैसा ही रहेगा; जैसा उनके सामने चलता था, वैसा ही अब भी चलाइये।"

हमने संकोच से कहा — "आप तो कहते हैं, पर .....।"

हम अपनी बात पूरी ही न कर पाये कि वे बीच में ही बोल पड़े — "लाओ, हम लिखकर देते हैं, फिर ....."

उन्होंने तत्काल कागज-पेन मंगाया और इस वृद्धावस्था में भी पूरा अपने हाथ से गुजराती में लिखकर दिया, जो आज भी हमारे पास सुरक्षित है। उसके महत्वपूर्ण अंश का अक्षरश: हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है —

"धर्मप्रेमी नेमीचन्दजी पाटनी एवं डॉ. हुकमचन्दजी,

आज आप दोनों हिन्दी आत्मधर्म — जो जयपुर से प्रकाशित होता है, उसके कार्यक्षेत्र के संबंध में खुलासा (करने-कराने) के लिए आये; इसलिए मैं निम्नलिखितानुसार स्पष्टीकरण करना योग्य समझता हूँ —

पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में सभी कार्य उसीप्रकार चलना चाहिए, जिसप्रकार गुरुदेवश्री की उपस्थिति में चलते थे। इसलिए हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन जिसप्रकार जयपुर से होता आया है, वह उसीप्रकार अभी भी वहाँ से ही चालू रखना है।

आपने हमसे यह भी चर्चा की कि पूज्य गुरुदेवश्री एवं पू. बहिनश्री के लिए क्या-क्या विशेषणों और शब्दों का प्रयोग करना। इस संबंध में भी मैं स्पष्ट करता हूँ कि जबसे हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन जयपुर से आरंभ हुआ है, तब से गुरुदेवश्री की उपस्थिति में जो विशेषण या शब्द प्रयोग करते रहे हैं; उनको आगे भी चालू रहना चाहिए। अत: उसी के अनुसार आगे रखना, जिससे गुरुदेवश्री के समक्ष से चली आई प्रणाली चालू रह सकेगी।"

उक्त उद्धरण से उनकी गुरुदेवश्री के प्रति निष्ठा एवं गुरुदेवश्री की उपस्थिति में चलनेवाली धर्मप्रभावना उसीप्रकार चलती रहे — यह भावना हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है। इसी भावना से वे आज इस वृद्धावस्था में सोनगढ़ में गुरुदेवश्री के अभाव में भी एकाकी डटे हुए हैं, अन्यथा सर्वप्रकार

से सम्पन्न अपने सुयोग्य पुत्र श्री सुमनभाई के पास बम्बई आकर आराम से रह सकते थे; क्योंकि गुरुदेवश्री का साक्षात् समागम तो अब वहाँ है ही नहीं और टेप तो वे घर बैठे भी बड़े आराम से सुन सकते हैं।

उनकी कर्मठता एवं लगन का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है?

सोनगढ़ के ये महारथी मात्र व्यवस्था एवं प्रशासन तक ही सीमित नहीं रहे हैं, अपितु ज्ञानाराधना, पठन-पाठन, लेखन, संपादन एवं प्रकाशन में भी आपका अभूतपूर्व योगदान रहा है।

अध्यात्म विद्या एवं आगम के उद्धरणों के तो मानों वे चलते-फिरते शब्दकोश ही हैं। उनसे तत्त्वचर्चा करनेवालों को यह भली-भाँति ज्ञात है कि जब वे किसी प्रश्न का उत्तर दे रहे होते हैं, तो आगम उद्धरणों की झड़ी लगा देते हैं। उसीसमय ग्रन्थ के नाम के साथ पृष्ठ संख्या भी तत्काल बताते जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी उनकी टीका आगम प्रमाणों से भरी पड़ी है। उनकी 'धर्म की क्रिया' आदि कृतियाँ भी अवलोकनीय ही नहीं, मननीय हैं।

सोनगढ़ में तैयार हुए शताधिक प्रवचनकारों के वे आद्य विद्यागुरु हैं; क्योंकि सोनगढ़ में जब से शिक्षण-शिविर आरंभ हुए हैं, तभी से उत्तम कक्षा में अध्यापन का कार्य वे और आदरणीय श्री खीमचंदभाई ही करते रहे हैं। उनकी कक्षा सदा गुरुदेव श्री के समक्ष स्वाध्याय मंदिर में ही लगा करती थी।

आत्मधर्म के आद्य संपादक होने से गुरुदेवश्री की वाणी का लेखन, संपादन एवं प्रकाशन कर जन-जन तक पहुँचाने के भागीरथ कार्य की भी आपने ऐसी ठोस नींव रखी कि वह आज तक फल-फूल रही है। उसकी ऐसी मर्यादायें स्थापित कीं, जिनके सहारे चलने में उत्तराधिकारियों को कोई कठिनाई ही नहीं रही।

मैं अपने को बड़ा ही सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे आदरणीय पू. बापूजी से अध्ययन करने का भी अवसर प्राप्त हुआ है; जिस आत्मधर्म के वे आद्य संपादक रहे, उसके संपादन का भी अवसर प्राप्त है तथा पूज्य गुरुदेवश्री

की उपस्थिति में ही जो कक्षा वे लेते थे, उसे लेने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो चुका है।

गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में आज भी उनकी छत्र-छाया मुझे उसीप्रकार प्राप्त है, जिसप्रकार उनकी पावन उपस्थिति में प्राप्त थी। उनकी छत्र-छाया हमें आजीवन प्राप्त रहे और पू. बापूजी अपरिमित काल तक आत्महित के साथ-साथ हमारा मंगल मार्गदर्शन करते रहें — इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ। •

संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस ग्रंथराज समयसार में आरम्भ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते आये हैं। **सारसमयसार, पृष्ठ-१३**

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को क्रिया करते हुए एवं उसका फल भोगते हुए भी यदि कर्मबंध नहीं होता है और निर्जरा होती है तो उसका कारण उसके अंदर विद्यमान ज्ञान और वैराग्य का बल ही है। **सारसमयसार, पृष्ठ-१६**

हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि जीव को होनेवाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टायें या कर्मराज आदि नहीं। **सारसमयसार, पृष्ठ-१७**

यद्यपि यह बात सत्य है कि कर्मजाल, योग, हिंसा और भोग-क्रिया के कारण बंध नहीं होता, तथापि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती और न होनी ही चाहिए; क्योंकि पुरुषार्थहीनता और भोगों में लीनता मिथ्यात्व की भूमिका में ही होती है। **सारसमयसार, पृष्ठ-१९**

११

श्री खीमचन्दभाई : एक असाधारण व्यक्तित्व

(खीमचन्दभाई स्मृति विशेषांक, जैनपथप्रदर्शक अगस्त द्वितीय १९८४ से)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भागीरथ प्रयास से प्रवाहित आध्यात्मिक ज्ञानगङ्गा में आकण्ठ निमग्न चार लाख मुमुक्षु भाई-बहिनों एवं शताधिक आध्यात्मिक प्रवचनकार विद्वानों में आज ऐसा कौन है, जो आदरणीय विद्वद्वर्य श्री खीमचंदभाई जेठालाल शेठ से अपरिचित हो, अनुग्रहीत न हुआ हो; सोनगढ़ में प्रतिवर्ष श्रावणमास में लगनेवाले आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर उनकी कक्षा में न बैठा हो और जिसने उनसे कुछ-न-कुछ न सीखा हो?

हो सकता है उनसे साक्षात न भी सीखा हो, तो भी उनके शिष्य-प्रशिष्यों से तो सीखा ही होगा; प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु उनसे उपकृत अवश्य हुआ है, अनुग्रहीत अवश्य ही हुआ है। जो भाई उनके जीवनकाल में कदाचित् सोनगढ़ न भी पहुँच पाये हों, पर उन्होंने भी सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर होनेवाले उनके प्रवचनों का लाभ तो लिया ही होगा।

यही कारण है कि भारतवर्ष के कौने-कौने में बसनेवाले मुमुक्षु भाइयों को आज भी उनके बोल याद आते हैं। अध्यात्म जैसे दुरूह विषय को वे बोलों के माध्यम से जन-जन को कण्ठस्थ करा देते थे। आध्यात्मिक प्रवचनों और कक्षाओं के अतिरिक्त उनका स्नेहिल-व्यवहार भी मुमुक्षु भाई-बहिनों को उनकी ओर सहज ही आकर्षित करता था।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की अध्यात्मधारा से हिन्दी जगत को गहराई से परिचित करानेवाले आद्यप्रवक्ता श्री खीमचंदभाई ही थे। सोनगढ़ में

हिन्दीभाषी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का एकमात्र आश्रयस्थल उनका घर ही था। हिन्दी भाषी आत्मार्थी भाई, न केवल अपनी तत्त्वसंबंधी जिज्ञासाएँ उनसे शान्त करते थे; अपितु अपनी ठहरने, रहने, खाने-पीने एवं उठने-बैठने संबंधी असुविधाओं का समाधान भी उनसे ही प्राप्त करते थे। सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों के लिए उनका दरवाजा बिना किसी भेदभाव के सदा खुला रहता था। कोई भी व्यक्ति उनके दरवाजे से कभी निराश न लौटा होगा।

अगणित लोगों से अपनापन स्थापित कर उसे निबाह लेने की अद्‌भुत क्षमता उनमें थी। प्रत्येक व्यक्ति से सहज स्नेहिल-व्यवहार उनकी अपनी विशेषता थी, किसी से भी नाराज होते उन्हें कभी नहीं देखा गया। यदि बापूजी रामजी भाई सोनगढ़ के भीष्मपितामह हैं, तो सदा शान्त रहनेवाले सत्यानुरागी श्री खीमचंद भाई धर्मराज युधिष्ठिर थे।

पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद उत्पन्न स्थितियों से उनका हृदय अत्यन्त खेदखिन्न था। उनके निराकरण में सम्पूर्णत: सक्रिय रह पाना अस्वस्थ रहने के कारण यद्यपि संभव नहीं रह पाता था, तथापि सत्यपक्ष के सक्रिय समर्थन एवं सहयोग में वे कभी पीछे नहीं रहे। मुमुक्षु समाज की एकता के लिए सर्वस्व समर्पण की उनकी भावना अन्तिम साँस तक व्यक्त होती रही। मृत्यु-शय्या पर लेटे-लेटे भी उन्होंने आदरणीय लालचंदभाई को आश्वासन दिया था कि आप आत्मधर्म के पैसे वापिस करने की चिन्ता न करें। यद्यपि मेरे पास ..... फिर भी मैं .....?

उनके असामयिक महाप्रयाण से समस्त मुमुक्षु समाज के साथ-साथ हिन्दीजगत को सर्वाधिक अपूरणीय क्षति हुई है। मैंने तो अपना एक अत्यन्त स्नेही संरक्षक एवं हर अच्छे काम पर भरपूर पीठ थप-थपानेवाला उत्साह बढ़ानेवाला, सच्चा मार्गदर्शक ही खो दिया है। उनके निधन से मेरी जो व्यक्तिगत अपूरणीय क्षति हुई है, उसे शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है। मुझे उनका सदा ही पुत्रवत् स्नेह प्राप्त होता रहा है। मेरे समान न मालूम कितने मुमुक्षु भाई हैं, जो इसप्रकार का अनुभव करते होंगे?

श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदीका द्वारा निर्मित श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर का शिलान्यास उनके ही पावन कर-कमलों द्वारा संपन्न हुआ था; मुझे

उससे जोड़नेवाले भी वे ही थे। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा संचालित तत्त्व-प्रचार व प्रसार संबंधी गतिविधियों से सम्पूर्ण जैनसमाज में आज कौन अपरिचित है? सभी जानते हैं कि आज उसने दिग्दिगन्त में वीरवाणी की, गुरुवाणी की, कहानवाणी की ध्वजा फहरा रखी है। उनके द्वारा तीव्रगति से संचालित विभिन्न प्रकार की तत्त्वप्रचार संबंधी गतिविधियों का ही परिणाम है कि गुरुदेवश्री द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति आज 'दिन दूनी रात चौगुनी' वृद्धिंगत हो रही है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा संचालित तत्त्वप्रचार संबंधी उक्त गतिविधियों को स्व. खीमचंदभाई का सक्रिय सहयोग एवं मंगल-आशीर्वाद आजीवन प्राप्त रहा है।

तीन हजार से भी अधिक धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षक तैयार कर देनेवाले प्रशिक्षण-शिविरों में वे लगातार तबतक निरन्तर आते रहें, जबतक कि एकदम थक नहीं गये। अबतक लगनेवाले १८ शिविरों में से लगभग ८-१० शिविरों में वे अवश्य ही आये होंगे। इसीप्रकार श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय एवं उसके परिवार को भी उनका मंगल-आशीर्वाद एवं हार्दिक स्नेह निरन्तर मिलता रहा है।

यद्यपि जबसे महाविद्यालय की स्थापना हुई, तबसे प्रायः वे शिथिल ही रहे, लगभग अस्वस्थ ही बने रहे; तथापि वे महाविद्यालय की स्थिति और प्रगति को समीप से देखने के लिए जयपुर पधारे थे।

तत्त्वरुचि सम्पन्न विद्वानों, विशेषकर महाविद्यालय से निकले अल्पवयस्क प्रवक्ता विद्वानों को देखकर उनका हृदय बाँसों उछलने लगता था।

उनके प्रथम स्मृति-दिवस पर प्रकाशित होनेवाले 'जैनपथ प्रदर्शक' के इस विशेषांक ने उपकृत मुमुक्षु समाज को उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने का, अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया है; साथ ही उनके बोलों को, प्रवचनों को यथासंभव संग्रह कर उनके प्रदेय को स्थायित्व प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया है।

मैं इसके माध्यम से उनके हार्दिक स्नेह एवं सक्रिय सहयोग को स्मरण करते हुए उनके प्रति विनम्र श्रद्धाञ्जली समर्पित करता हूँ। •

१२

अजातशत्रु पण्डित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता

(जैनपथप्रदर्शक के बाबूभाई विशेषांक, अगस्त १९८५ से)

औसत कद और इकहरे बदन पर दूध से शुभ्र खादी के धोती-कुर्त्ता, ऊपर से खादी की ही सफेद जवाहरकट जाकिट, मस्तक पर चौड़ी दीवाल की नोकदार खादी की सफेद गुजराती टोपी और उसके नीचे गोरा-भूरा तेजस्वी प्रसन्न मुखमण्डल, निमंत्रण देती हुई स्नेहिल आँखें, उल्लसित हृदय और परायों को भी अपना बना लेनेवाले निश्छल व्यवहार का ही दूसरा नाम है — पण्डित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता, जिसे सम्पूर्ण जैन समाज 'बाबूभाई' नाम से ही जानता है।

अदम्य उत्साह का प्रतीक यह 'बाबूभाई' नाम ही मुमुक्षु भाइयों को उल्लसित करने के लिए पर्याप्त है। न मालूम उनमें ऐसा क्या जादू था कि प्रत्येक व्यक्ति उनसे अपनत्व अनुभव करता था ?

वे अजातशत्रु थे, उनके विचारों से असहमत लोग भी उनकी प्रशंसा करते थे, उन्हें सन्मान की दृष्टि से देखते थे, उनके व्यवहार और कार्यों की दिल खोलकर सराहना करते थे।

वे अध्यात्मप्रेमी थे, आध्यात्मिक प्रवक्ता थे, कुशल कार्यकर्त्ता थे, सफल नियोजक एवं लोकप्रिय धार्मिक नेता थे। अध्यात्म उनके जीवन में तिल में तेल की भाँति समाया हुआ था।

तीर्थों एवं जीवन्त-तीर्थ जिनवाणी के वे परमभक्त थे। उनकी सुरक्षा में वे जीवन भर तन-मन-धन से समर्पित रहे। श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट उनकी तीर्थभक्ति का जीवन्त स्मारक है।

उन्होंने इसके लिए मात्र धनसंग्रह ही नहीं किया, अपितु इसके माध्यम से ऐसे महान कार्य सम्पन्न किए कि जिनसे आज सम्पूर्ण समाज गौरवान्वित है। उनके लगाए इस पौधे ने दश वर्ष के अल्प काल में एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है, जिसकी छाया में आज तीर्थ सुरक्षित हैं और जीवन्त तीर्थ जिनवाणी फल-फूल रही है।

वे अपनी इस कृति पर अपने आप ही मुग्ध थे। जब वे इस ट्रस्ट के महाविद्यालय से निकले अध्यात्मरुचि-सम्पन्न व्युत्पन्न विद्वानों को देखते-सुनते तो सब-कुछ भूल जाते। इसीकारण जीवन के अन्तिम काल में साढ़े तीन वर्ष वे श्री टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर, जयपुर में ही रहे। यहाँ से हो रही तत्त्वप्रभावना एवं विद्वानों की भावी-पीढ़ी के निर्माण को देखकर उनका चित्त सदा उल्लसित रहता था। जिनवाणी-प्रकाशन एवं तत्त्वप्रचार संबंधी समस्त गतिविधियों में वे जीवन के अन्तिम क्षण तक रुचि लेते रहे।

जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में जब वे बिना सहारे और सहयोगी बिना चल-फिर भी नहीं सकते थे, तब भी अपनी दैनिकचर्या में पूर्णत: सतर्क रहे। एक भी दिन ऐसा न निकला होगा; जिस दिन उन्होंने देवदर्शन न किये हों, पूजन न किया हो। बिना दर्शन-पूजन के वे कुल्ला भी नहीं करते थे।

जीवन के अन्त समय तक उनका स्वाध्याय भी नियमित रहा। स्मारक भवन में होनेवाले प्रात:कालीन एवं सायंकालीन प्रवचनों के वे नियमित श्रोता थे। इसके अतिरिक्त टेपों द्वारा गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचन भी वे प्रतिदिन नियमितरूप से सुनते थे।

असह्य पीड़ा में भी उन्हें कभी व्यग्र होते नहीं देखा। जीवन के अन्तिम वर्षों में बीमारी के वज्रप्रहार से वे एकदम पंगु से हो गये थे, पर उन्होंने इस अभाग्य को भी सद्भाग्य के रूप में देखा। वे कहा करते थे कि यदि मैं इस स्थिति में नहीं पहुँचता तो मुझे आत्मसाधना के लिए इतना समय भी न मिलता, सामाजिक कार्यों और धार्मिक-अनुष्ठानों में ही उलझा रहता।

पर इस जगत ने इस पंगु अवस्था में भी उन्हें नहीं छोड़ा; क्योंकि वे गुजरात में होनेवाले सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में तो अनिवार्य से हो गये थे। वे ऐसी ही अवस्था में भी अहमदाबाद पंचकल्याणक में गए, रणासन शिविर में

भी गये। जयपुर शिविरों में तो पूर्णत: सक्रिय रहते ही थे। सामाजिक उथल-पुथल में भी उनका मार्गदर्शन अन्त तक प्राप्त होता रहा है।

जब भी वे अपनी पंगुता का जिक्र करते तो मैं यही कहता कि आपके हाथ-पैर हम लोग तो हैं, आप आज्ञा तो दीजिए और देखिए — काम होता है या नहीं? आपके दो हाथ-पैर शिथिल हुए हैं तो सैकड़ों हाथ-पैर तैयार हो गये हैं।

जब वे यह सुनते तो एकदम प्रफुल्लित हो उठते। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस असाध्य रोग से अब जीवन भर उभरना सम्भव नहीं है — इस बात को वे कहते भी थे, पर उन्हें हतोत्साह होते कभी नहीं देखा; बल्कि इस असाध्य बीमारी को भी उन्होंने आत्महित के लिए उपयुक्त व अमूल्य अवसर ही समझा था।

अमंगल में भी मंगल देखने की वृत्ति उनकी सहज ही थी। किसी का अशुभ चिन्तन उनकी वृत्ति में था ही नहीं। किसी का बुरा करने की बात तो बहुत दूर, उन्होंने कभी किसी के बारे में बुरा सोचा भी न होगा — उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था।

मुझे इस बात का गौरव है कि इस महापुरुष के साथ लगातार बीस वर्ष तक कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने का सौभाग्य मिला है। आज उनके अभाव में मैं अपने को अकेला अनुभव करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे समर्थ आचार्यों के बड़े-बड़े ग्रंथाधिराज सोनगढ़ से प्रकाशित होते थे। जयपुर से तो मात्र धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें एवं छोटी-मोटी पुस्तकें ही प्रकाशित होती रही हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद जब सोनगढ़ से उनका प्रकाशन बन्द हो गया और जयपुर इतना समर्थ न था कि उन्हें प्रकाशित कर सके, तो हमें बहुत चिन्ता हुई। हमने इस सम्बन्ध में सभी प्रमुख लोगों को एक प्रपत्र भी भेजा, जिसमें सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया था।

पर एक दिन आदरणीय बाबूभाईजी ने मुझे बुलाकर कहा —

"डाक्टर साहब! मैंने एक बात सोची है कि आचार्यों के शास्त्रों को छपाने का काम जयपुर से ही आरम्भ किया जाय। यदि आप .....।"

मैंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा —

"विचार तो आपका बहुत अच्छा है, पर ....."

मेरी बात पूरी ही न हो पाई थी कि वे बीच में बोले —

"काम तो आपको ही करना होगा।"

मैंने कहा — "काम से कौन इन्कार करता है? पर ....."

वे बोले — "और किसी बात की चिन्ता न करो, कुन्दकुन्द-कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट जिनवाणी-प्रकाशन में दश लाख की पूँजी लगायेगा।"

उनकी इस भावना को देख मैं गद्‌गद् हो गया। ऐसी थी उनकी जीवंत-तीर्थ जिनवाणी की भक्ति।

उनकी भावना और संकल्प का ही परिणाम है कि आज हमारे यहाँ श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट का प्रकाशन विभाग कार्यरत है, जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्यों के अनेक ग्रन्थाधिराज प्रकाशित हो रहे हैं।

इसीप्रकार एक दिन मुझे बुलाकर बोले — "मैं सोचता हूँ कि तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की ओर से दश विद्वान निरन्तर धर्मप्रचार के लिए सारे देश में घूमते रहना चाहिए।"

मैंने कहा — "यह तो बहुत अच्छी बात है, मैं भी बहुत दिनों से सोचता था, पाटनीजी से चर्चा भी की थी; पर कोई रास्ता समझ में नहीं आता था। यह बात तो आपने मेरे मुँह की ही छीन ली है; पर मैं चाहता हूँ कि वे मात्र धर्मप्रचार ही करें, चंदा न करें।"

उन्होंने तपाक से कहा — "चंदा की बात कहाँ से लाए?"

मैंने कहा — "समाज में धर्मप्रचारकों के नाम पर चंदा करनेवाले ही घूमते हैं; अत: लोग उन्हें ....."

वे बोले — "मैं जानता हूँ। मेरी भावना चंदा कराने की नहीं; मात्र धर्मप्रचार की है, तत्त्वप्रचार की है। समाज में धार्मिक जागृति बनी रहे — यही मैं चाहता हूँ। मैं तो अब कहीं आ-जा नहीं सकता, पर मैं चाहता हूँ कि समाज धार्मिक दृष्टि से जागृत रहे। समाज के जागृत रहने पर ही तीर्थ सुरक्षित रहेंगे और जीवन्त-तीर्थ जिनवाणी भी सुरक्षित रहेगी।"

मैंने कहा — "जिनवाणी मात्र अलमारियों में ही सुरक्षित नहीं रहना चाहिए, लोगों के कण्ठों में भी बसना चाहिए, दिलो और दिमाग में भी सुरक्षित रहना चाहिए।"

उन्होंने कहा — "मेरी भी यही भावना है।"

उन्होंने मात्र भावना ही प्रगट नहीं की, अपितु तत्काल कार्य आरम्भ करा दिया। परिणामस्वरूप कुन्दकुन्द-कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट के प्रकाशन विभाग के साथ प्रचार विभाग भी चल रहा है।

जब से वे रुग्णावस्था में जयपुर में रहे, तब की बात छोड़ भी दें तो भी वर्ष में लगभग चार माह उनके साथ-साथ रहने का अवसर तो मुझे मिलता ही रहा है। सोनगढ़ शिविर, जयपुर शिविर, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर में तो साथ-साथ रहना होता ही था; पंचकल्याणक आदि उत्सवों एवं महासमिति आदि की मीटिंगों में भी उनके साथ रहना होता था।

लगातार तीन माह तक साथ-साथ रहने का अवसर सर्वप्रथम धर्मचक्र यात्रा में रहा; जिसमें हमारा सोना, उठना-बैठना, खाना-पीना, चलना-फिरना — सब एक साथ ही होता था। उससमय उनकी कार्यक्षमता, साधर्मी वात्सल्य और धर्मप्रचार की उत्कट भावना मुझे अत्यन्त समीप से देखने को मिली। मेरे कमजोर स्वास्थ्य और उग्र प्रकृति को उन्होंने किसप्रकार सँभालकर रखा? — यह मैं ही जानता हूँ। मुझे पक्का विश्वास था कि मैं इस लम्बी यात्रा में निश्चितरूप से बीमार होकर लौटूँगा; पर अथक श्रम के बावजूद भी स्वस्थ लौटा — यह उनके साधर्मी वात्सल्य का ही प्रभाव था।

आज वे बातें स्वप्न-सी हो गई हैं। जब वे बातें याद आती हैं तो चित्त उद्विग्न हो जाता है। यद्यपि वे मुझसे छह वर्ष बड़े थे; तथापि जब शिखरजी की यात्रा में मुझे डोली में बिठा देते और स्वयं पैदल चलते, तब कौन कल्पना कर सकता था कि वे इतनी जल्दी पंगु हो जावेंगे और हमें बिलखता छोड़कर चल भी देंगे?

यद्यपि मेरे हृदय में उनके प्रति जितना सम्मान था, वह मैं ही जानता हूँ; तथापि लोग उनके सामने जितने विनत रहते थे, उतना मैं नहीं, मैं उनका मुँह

लगा बीरबल था। काम की बातों के अतिरिक्त मैं उनसे व्यंग्य-विनोद भी कम नहीं करता था। भयंकर पीड़ा में भी जबतक एकबार उन्हें खिलखिलाकर हँसा न लूँ; न मुझे चैन पड़ता था, न उन्हें।

सखाभाव में जिसप्रकार का लड़ना-झगड़ना, हँसना-हँसाना, मिल-जुलकर जुटकर काम करना होता है; वैसा ही उनके साथ मेरा भी जीवन भर चला है। उनके अभाव में मैंने एक सच्चा मित्र, सन्मार्गदर्शक अग्रज एवं समर्थ साथी खो दिया है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने जो अध्यात्मगंगा प्रवाहित की है, उसके पावन जल को देश के कोने-कोने में पहुँचाने का काम जीवन भर आदरणीय बाबूभाईजी ने जिस विधि से किया है, वह अनुकरणीय है, अभिनन्दनीय है। आज जो भी तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार हो रहा है; उसमें बाबूभाईजी का योगदान अभूतपूर्व है, अद्‌भुत है। उनके निर्मल चरित्र, सात्त्विक जीवन, सरल स्वभाव, अनुकरणीय जिनभक्ति एवं अथक परिश्रम ने उन्हें सर्वत्र अबाध प्रवेश दिया था।

आज वे हमें छोड़कर अवश्य चले गए हैं; पर अपने पीछे तत्त्वप्रचार का एक सुगठित सशक्त तंत्र छोड़ गए हैं, जिसे हम संगठित रहकर चलाते रह सकें तो उनकी भावनाओं को साकार रूप प्राप्त होता रहेगा।

भाई! संसार का स्वरूप ही ऐसा है — एक दिन हम सबको भी जाना है, दो-चार वर्ष पीछे या दो-चार वर्ष आगे — इससे क्या अन्तर पड़ता है; अतः हम सभी को अपना जीवन इतना व्यवस्थित बनाना चाहिए कि हम प्रतिपल जाने को तैयार रहें, यदि मौत सामने आ भी जाय तो हमें एक समय भी यह विकल्प नहीं आना चाहिए कि जरा ठहरो! यह काम निबटा लूँ।

"लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे" — की भावना से ओत-प्रोत होकर जीने और मरने के लिए सदैव तैयार रहना ही वास्तविक जीवन है। — आदरणीय बाबूभाई ने ऐसा जीवन जिया था, हम सब भी इसीप्रकार शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी एवं आत्महित ही जिसमें मुख्य हो — ऐसा जीवन ज़िएँ और उनके समान ही धीर-वीर बनकर समाधि मरण के लिए भी प्रतिक्षण तत्पर रहें, सन्नद्ध रहें — इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। •

१३

सरस्वती के वरद पुत्र

(सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ से)

धवलादि महाग्रन्थों के यशस्वी संपादक, करणानुयोग के प्रकाण्ड पण्डित, सिद्धान्ताचार्य पदवी से विभूषित सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचंदजी शास्त्री उन गिने-चुने विद्वानों में से हैं, जिन्होंने टूट जाने की कीमत पर भी कभी झुकना नहीं जाना। संघर्षों के बीच बीता उनका जीवन एक खुली पुस्तक के समान है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनके संघर्षशील अडिग व्यक्तित्व की अमिट छाप है।

रणभेरी बजने पर स्वाभिमानी राजपूत का बैठे रहना जिसप्रकार संभव नहीं रहता, उसीप्रकार अवसर आनेपर किसी भी चुनौती को अस्वीकार करना — छात्र तेज के धनी पण्डित फूलचन्दजी को कभी संभव नहीं रहा। कठिन से कठिन चुनौती को सहज स्वीकार कर लेना, उनकी स्वभावगत विशेषता रही है। चुनौतियों से जूझने की अद्भुत क्षमता भी उनमें है।

'खानियाँ तत्त्वचर्चा' उनकी इसी स्वभावगत विशेषता का सुपरिणाम है, जो अपने आप में एक अद्भुत ऐतिहासिक वस्तु बन गई है। पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी की आध्यात्मिक क्रान्ति के धवल इतिहास में पण्डितजी की 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' एवं जैनतत्त्वमीमांसा' एक कीर्तिस्तंभ के रूप सदा ही स्मरण की जातीं रहेंगी।

मोटी खादी की धोती, कुर्ता और टोपी में लिपटा साधारण-सा दिखनेवाला उनका असाधारण व्यक्तित्व प्रथम दर्शन में भले ही साधारण लगे, पर निकट सम्पर्क होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता और दृढ़ संकल्प का परिचय सहज ही होने लगता है।

सिद्धान्तशास्त्रों के गहन अध्येता का अभिनन्दन वास्तव में एक प्रकार से सिद्धान्तशास्त्रों का ही अभिनन्दन है। यद्यपि सरस्वती के आराधकों, उपासकों, लाड़ले सपूतों का इन लौकिक अभिनन्दनों की आकांक्षा नहीं होती, होनी भी नहीं चाहिए; तथापि सरस्वती माता की प्रतिदिन वंदना करनेवाली जिनवाणी भक्त धर्मप्रेमी समाज को भी अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है।

पण्डितजी उस वरिष्ठतम पीढ़ी के प्रतिनिधियों में से एक हैं, जो प्राय: निश्शेष हो चुकी है या निश्शेष होती जा रही है। सिद्धान्तज्ञान के रूप में आज उनके पास जो भी अनुपम निधि उपलब्ध है; हमारा कर्तव्य है कि हम उसका अधिकतम लाभ लें। कोई ऐसा बृहत् उपक्रम किया जाना चाहिए, जिससे उनके ज्ञान को आगामी पीढ़ी के लिए सुरक्षित किया जा सके।

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्ताचार्य का सिद्धान्तज्ञानमय जीवन अध्यात्ममय हो, आनन्दमय हो जावे — इस मंगल कामना के साथ उन्हें प्रणाम करता हूँ •

भाई ! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिंदु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयुपर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रति दिन अनेक गोलियाँ खाने वाले दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय हैं; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-११०

१४

शिक्षाजगत के लिए समर्पित व्यक्तित्व

ब्र. पण्डित श्रीमाणिकचन्दजी चवरें

एकदम गोरी-भूरी, किन्तु दुबली-पतली चादर में लिपटी अत्यन्त कृष काया; जिसे देखकर कोई अनुमान ही न कर सके कि यह वही महापुरुष हैं कि जिसने अपनी सारी सम्पत्ति और सम्पूर्ण जीवन आत्मकल्याण के साथ-साथ शिक्षा के माध्यम से समाज सेवा के लिए समर्पित कर दिया है।

आचार्य श्री समन्तभद्रजी महाराज ने महाराष्ट्र के आंचलिक प्रदेशों में जो शैक्षणिक क्रान्ति का शंखनाद किया था; ब्र. पण्डित श्रीमाणिकचन्दजी चवरें उस क्रान्ति के पुरोधा योद्धा थे। इस क्रान्ति ने ऐसे अनेक गुरुकुलों को जन्म दिया कि जिनमें ग्रामीण अंचलों से आये हजारों दिगम्बर जैन छात्रों ने शिक्षा प्राप्त की है, कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे।

इन आवासीय गुरुकुलों में अध्ययनरत छात्र वे छात्र हैं कि जिन्हें यदि यह सुविधा प्राप्त नहीं होती तो वे अशिक्षित ही रह जाते। उन साधनहीन छात्रों को इन गुरुकुलों में नि:शुल्क सर्वसुविधायें उपलब्ध कराके लौकिक शिक्षा तो दिलाई ही जाती है; साथ ही धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ संस्कारित भी किया जाता है। उनके वियोग से ये गुरुकुल एक प्रकार से अनाथ से हो गये हैं।

जिनागम और जिन-अध्यात्म का अध्ययन भी उनका बहुत गहरा था। वे जब भी मिलते थे तो अध्यात्म के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ समयसार की आत्मख्याति टीका का पंक्ति-पंक्ति का अर्थ जानना चाहते थे; तत्संबंधी चर्चा ही करते थे।

तीर्थक्षेत्र कमेटी की आर्थिक सुदृढ़ता में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके वियोग से समाज ने एक चिन्तक एवं सभी का परम हितैषी खो दिया है। ●

१५

श्री पूरनचन्दजी गोदीका : एक अनोखा व्यक्तित्व

(वीतराग-विज्ञान के, श्री पूरनचन्दजी गोदीका विशेषांक, दिसम्बर/जनवरी, १९८९-९० से)

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी और श्रीमान् सेठ श्री पूरनचन्दजी गोदीका के वियोग ने मुझे सर्वाधिक आन्दोलित किया है; क्योंकि एक से मुझे वीतरागी तत्त्वज्ञान मिला और दूसरे ने उसी वीतरागी तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के साधन जुटाये; एक का आशीर्वाद मुझे सतत् प्राप्त रहा, वरद हस्त मेरे मस्तक पर निरन्तर रहा तो दूसरे का असीम वात्सल्य भी आजीवन प्राप्त रहा है; एक की सभा में प्रमुख श्रोता के रूप में नियत स्थान पर बैठने का सुअवसर प्राप्त रहा तो दूसरे मेरी सभा के प्रमुख श्रोता रहे, अपने नियत स्थान पर बैठकर जीवन के अन्तिम दिन तक प्रवचन सुनते रहे।

आज भी जब मैं श्री टोडरमल स्मारक भवन के प्रवचन मण्डप में प्रवचन करने बैठता हूँ, तो मेरी दृष्टि बरबस ही उधर जाती है, जहाँ प्रवचन सुनने के लिए गोदीकाजी बैठा करते थे। उन जैसा नियमित एवं सतत् जागृत श्रोता मिलना आज दुर्लभ ही है। उनके शान्त सौम्य चेहरे पर एकदम सरल, सहज वैराग्यभाव सम्पूर्ण प्रवचनकाल में निरन्तर बहते रहते थे। प्रवचन के पाँच मिनट पहले अपना स्थान ग्रहण कर लेना और जिनवाणी स्तुति हो जाने के पूर्व कभी सभा छोड़कर नहीं जाना उनका दैनिक क्रम था।

इसमें कोई शक नहीं कि उनके क्षयोपशमज्ञान में जैनदर्शन का मूल तत्त्व अच्छी तरह आ गया था। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही एकमात्र आराध्य है, साध्य है; — यह वे अच्छी तरह समझ चुके थे। जीवन के अन्तिम क्षण

तक वे उसी का चिन्तन-मनन करते रहे और उन्होंने अत्यन्त जागृत अवस्था में प्राणों का विसर्जन किया। उन्होंने वर्षों से रात्रि में पानी भी नहीं लिया था और अभक्ष्य-भक्षण तो उनके जीवन में था ही नहीं। जीवन के अन्तिम वर्षों में किसी भी प्रकार की दवा न लेने का संकल्प भी उन्होंने कर लिया था।

नाम के लिए दान देनेवालों की तो समाज में आज कमी नहीं है। आज ऐसे लोग तो गली-गली में मिल जायेंगे, जो अपने या अपने माँ-बाप के, पति के या पत्नी के या बाल-बच्चों के नाम पर संस्थाओं का, संस्थानों का, मन्दिरों का, धर्मशालाओं का, पाठशालाओं का, विद्यालयों का, महाविद्यालयों का, अस्पतालों का नाम रखने की कीमत पर लाखों रुपये खर्च करने को तैयार हैं; पर गोदीकाजी जैसे दानियों के दर्शन आज दुर्लभ ही हैं, जिन्होंने जमीन भी स्वयं खरीदी और उस पर पूरा स्मारक भवन और उसके अगल-बगल में ३६ कमरे, जिनालय, कार्यालय, भोजनालय, तलघर, विद्वद्निवास, सार्वजनिक प्याऊ, गैरेज, कुआँ एवं अतिथिगृह बनाकर ट्रस्ट को समर्पित कर दिया और उस पर कहीं भी अपना नाम तक न लिखाया। इतना ही नहीं वर्षों तक इसका मासिक आर्थिक व्यय भी स्वयं ही वहन करते रहे, पर काम करने वाले अधिकारियों, कार्यकर्त्ताओं, कर्मचारियों, लाभ लेने वाले आगन्तुकों को कभी यह आभास भी नहीं हुआ कि हमारे बीच में कोई ऐसा आदमी भी निरन्तर रह रहा है, जिसकी ही यह सब कुछ माया है।

नाम व अधिकार की भावना तो उनमें रंचमात्र भी न थी, पर यह चिन्ता उन्हें जीवन के अन्तिम क्षणों तक रही कि यह हरी-भरी संस्था, जो वीतरागी तत्त्वज्ञान का आज केन्द्र बनी हुई है, असमय में ही उजड़ न जाये, लोगों की दुर्भावनाओं की शिकार न हो जावे। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक यह मंगल कामना करते रहे कि जिसमें उनका सबकुछ समर्पित है, वह पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट युग-युग तक इसी तरह फलता-फूलता रहे, युग-युग तक इसी मार्ग पर चलता रहे, जिस मार्ग पर वह आज तक चलता रहा है; युग-युग तक उसी रीति-नीति को अपनाता रहे, जिस रीति-नीति को आजतक अपनाये रहा है और युग-युग तक वीतरागी तत्त्वज्ञान को उसीतरह जन-जन तक पहुँचाता रहे, जिसतरह आज तक पहुँचाता रहा है।

वे सदा ही एक बात कहा करते थे कि इसप्रकार की संस्थाओं की संभाल वे लोग ही कर सकते हैं, जो स्वयं तत्वाभ्यासी हों, स्वयं भी निरन्तर स्वाध्याय करते रहे हों, तत्त्वरसिक हों और वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जीवन समर्पित करनेवाले हों, श्रद्धान के पक्के हों और किसी भी प्रकार के दबाव में आकर अपना मार्ग न बदलने वाले हों। उन्होंने अपनी इसी भावना के अनुरूप कार्यकर्त्ताओं को जुटाया और जीवन भर इसप्रकार के कार्यकर्त्ताओं की तलाश में रहे और जहाँ जो मिला, उसे इस संस्था से जोड़ने का प्रयास किया। पाटनीजी जैसे दृढ़ मनस्वी, जतीशभाई और छाबड़ाजी जैसे जीवन समर्पित करने वाले दृढ़ श्रद्धानी कार्यकर्त्ताओं का समर्पण इस संस्था को अनायास ही नहीं मिल गया है, गोदीकाजी ने बड़े ही प्रयासों से प्राप्त किया है और उन्हें सम्पूर्ण अधिकार एवं अतिरिक्त सन्मान देकर ट्रस्ट से जोड़े रखा है, उनकी भावनाओं का सदा सन्मान किया है; उन्हें तिरस्कृत करने की तो वे सोच ही नहीं सकते थे, पर उन्होंने उनसे ऊँची आवाज में भी कभी कुछ न कहा होगा।

अमर संस्थाओं से जीवनदानियों को जोड़ने की कला और रीति-नीति गोदीकाजी के जीवन से सीखी जा सकती है।

श्री टोडरमल स्मारक भवन का पूरा निर्माण कार्य लगभग हो चुका था और आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के मंगल करकमलों से उसका उद्घाटन भी हो चुका था। यह मार्च १९६७ की बात है। उक्त अवसर पर आने के लिए मुझे भी आमंत्रण मिला था, पर उन्हीं तिथियों में मेरी परीक्षायें थीं, अत: मैं उसमें सम्मिलित नहीं हो सका था।

उसी वर्ष मई में इन्दौर में शिक्षण-शिविर आयोजित था, जिसका उद्घाटन श्री गोदीकाजी ने किया था और जिसके प्रमुख प्रवक्ता खीमचन्दभाई थे। मैं भी सहायक प्रवक्ताओं में था और उत्तम कक्षा लेता था। गोदीकाजी प्रतिदिन मेरी कक्षा में बैठते थे और बड़े ध्यान से सुनते थे। खीमचन्दभाई और उनके बीच मुझे जयपुर लाने की बात चलती थी, जिसका मुझे कोई आभास न था।

एक दिन उन्होंने खीमचन्दभाई से कहा कि मैंने इनकी कक्षा तो सुनली है, अब मैं इनका प्रवचन भी सुनना चाहता हूँ। उस दिन खीमचन्दभाई ने अपना

प्रवचन स्थगित करके मेरा प्रवचन रखा। दूसरे दिन भोजन के लिए सब एकत्रित थे। खीमचन्दभाई के सामने उन्होंने मुझसे कहा कि आप जयपुर पधारिये। मैं यह समझा कि प्रवचनार्थ आने की कह रहे हैं; अत: मैंने कहा —

"क्यों नहीं? अवश्य आऊँगा, जब आप बुलायेंगे, हाजिर हो जाऊँगा।"

वे बोले — "मैं तो हमेशा के लिए आने की कह रहा हूँ।"

मैं कुछ समझा नहीं तो खीमचन्दभाई ने मुझे विस्तार से बताया कि गोदीकाजी ने जयपुर में बहुत बड़ी संस्था स्थापित की है। उसे संभालने के लिये आपको स्थायीरूप से रखना चाहते हैं।

सेठों के प्रति मेरा अनुभव अच्छा न था। मैं तो यही समझता था कि मान के भूखे ये लोग ऐसे ही कहा करते हैं। अत: मैंने कहा —

"आपकी भावना तो ठीक है, पर आप करना क्या चाहते हैं, क्या आपके पास कोई ठोस योजना है?"

उन्होंने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा —

"मैं एक जैन विश्वविद्यालय खोलना चाहता हूँ।"

उनकी बात सुनकर मुझे हँसी आ गई, पर उनकी अन्तरभावना जानने के लिये मैं उनसे बहुत-सी बातें करता रहा। उनकी निश्छल बातों से मैं यह समझ गया कि वे जैनधर्म का सुव्यवस्थित प्रचार-प्रसार करना चाहते हैं, विशेष कर बालकों में धार्मिक संस्कार डालना चाहते हैं।

मैंने दो-तीन दिन में एक रूपरेखा तैयार की और वह उन्हें देते हुए कहा कि आपको यह करना चाहिये। मेरी वह रूपरेखा और कुछ न थी, बस वही थी, जो विगत २२ वर्षों में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से अबतक हुआ है और हो रहा है।

मेरी वह रूपरेखा उन्हें बहुत पसंद आई और जयपुर आने के लिए अति-आग्रह करने लगे। कहने लगे —

"हम आपको अपने भाई जैसा ही रखेंगे, कोई तकलीफ न होगी; आप जो चाहे, करें; हम उसमें पूरा-पूरा सहयोग करेंगे।"

उनकी यह भावना और धर्मप्रचार के प्रति समर्पण देखकर मेरा भाव बदल गया; क्योंकि मेरे मन में भी इसप्रकार का कार्य करने की तीव्र भावना थी ही, पर .....।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि गोदीकाजी ने जैसा कहा था, उससे बढ़कर कर दिखाया। उनका व्यवहार इतना अच्छा रहा कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सहयोग भी इतना अधिक रहा कि मैं एक छोटी-सी पुस्तक लिखता और उसे गुरुदेवश्री को सुनाने के लिए सोनगढ़ जाता तो वे साथ जाते; पाटनीजी को, सेठीजी को भी साथ ले चलते। इसतरह पूरी पार्टी जाती। पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक वहाँ रहते। कितना आनन्द आता था — यह हम ही जानते हैं। आज वे सब बातें दुस्स्वप्न-सी हो गई हैं।

कहीं भी शिविर लगता तो हमारे साथ जाते, बीस-बीस दिन तक साथ रहते। विदिशा शिविर, ललितपुर शिविर आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं; जहाँ वे बीस-बीस दिन तक सपरिवार रहे। उन्हें मुझसे इतना अधिक वात्सल्य हो गया था कि जहाँ भी मैं धर्मप्रचार के लिए जाता, वहीं जाने को तैयार हो जाते। उनके स्वास्थ्य को देखकर कई बार मुझे स्वयं मना करना पड़ा। यह इनका विशुद्ध धार्मिक वात्सल्य था, इसमें कहीं कोई लौकिक गंध न थी।

जब उन्होंने अपनी पोती का संबंध मेरे पुत्र से किया तो अनेक बार लोगों से यह कहते पाये गये कि अब मैंने डॉक्टर साहब (मुझे) को जयपुर का स्थाईवासी बना लिया है। अब मुझे संस्था की कोई चिन्ता नहीं है।

अन्तर की गहराई से निकले उनके उक्त शब्द भी यही बताते हैं कि वे धार्मिक सम्बन्धों के आधार पर लौकिक कार्य सिद्ध नहीं करना चाहते थे, अपितु लौकिक सम्बन्धों के माध्यम से भी वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की गतिविधियों को स्थिरता प्रदान करना चाहते थे।

देहावसान के तीन दिन पहले ही जब मैंने उनसे देवलाली पंचकल्याणक में चलने के लिए कहा, तो कहने लगे कि अब मैं कहीं नहीं जा सकूँगा। मेरा स्वास्थ्य साथ नहीं देता। मेरा तो कहना है कि आप भी अब बाहर जाना कम कीजिये, अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखिये।

मैंने कहा — "आप तीन-तीन घंटे दोनों समय यहाँ बैठे रहते हैं, इसमें भी थकान होती है; इसे भी कुछ कम कीजिये।" तो वे एकदम तेजी से बोले —

"यह नहीं हो सकता है, प्रवचन तो मेरा जीवन है, इसे तो मैं किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ सकता।"

"मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ" अध्यात्म-गीत उन्होंने वर्षों पीछे पड़कर मुझसे बनवाया था। जब यह बन गया तो उन्हें इतना आनन्द हुआ कि मैं कुछ कह नहीं सकता। वे इसे जीवनभर गाते रहे, गुनगुनाते रहे।

श्री एम.के. गांधी, लन्दन ने मुझे बताया कि उनकी गोदीकाजी से सर्वप्रथम भेंट लन्दन से भारत आते हुए प्लेन में हुई थी। गोदीकाजी "मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ" गुनगुना रहे थे। यह सुनकर मैंने उनसे स्वयं परिचय किया। वे इसे घर-बाहर, देश-परदेश में गुनगुनाया ही करते थे।

मेरे चित्त में ऐसे हजारों प्रसंगों की स्मृतियाँ संचित हैं कि जिनके स्मरण मात्र से रोमांच हो जाता है।

इसमें रंचमात्र भी शंका नहीं है कि यदि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का समागम न मिलता तो मेरा जीवन आध्यात्मिक नहीं होता और गोदीकाजी का समागम नहीं मिलता तो मैं जिन-अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का यह कार्य नहीं कर सकता था, जो आज पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से हो रहा है।

आज दोनों ही महापुरुष हमारे बीच नहीं हैं, पर स्वामीजी का दिया हुआ तत्त्वज्ञान और गोदीकाजी द्वारा जुटाये साधन हमारे पास उपलब्ध हैं तथा मेरे जीवन का लक्ष्य भी यही एक मात्र रह गया है कि आत्म-साधना और आत्माराधना के अतिरिक्त जो भी समय रहे, वह स्वामीजी द्वारा दिये गये वीतरागी-तत्त्वज्ञान को गोदीकाजी द्वारा जुटाये गये साधनों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाता रहूँ। मेरी दृष्टि में दोनों महापुरुषों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि भी यही होगी।

आज इस महान कार्य में सहयोग करनेवाले ही मेरे मित्र हैं और इस मार्ग का विरोध करनेवाले या इस मार्ग से विचलित करनेवाले ही अमित्र हैं। अब मेरे लिए मित्रता और अमित्रता का आधार कोई लौकिक नहीं रह गया है; यह आध्यात्मिक कार्य ही एक ऐसा आधार है, जो अनुकूलों और प्रतिकूलों के बीच की विभाजक रेखा है।

वैसे तो अनेक अभिन्न मित्र और अनन्य सहयोगी आज भी विद्यमान हैं, जिनके सहयोग के बिना इस महान कार्य का संचालन संभव नहीं है; पर उनकी चर्चा करने का न तो यह समय ही है और न वह आवश्यक ही है; पर दिवंगत आत्माओं में पूज्य गुरुदेवश्री के अतिरिक्त एक और ऐसा नाम है, जो सदा ही मेरी स्मृति-पटल पर छाया रहता है। वह हैं आदरणीय विद्वद्वर्य एवं अनन्यसाथी पण्डित श्री बाबूभाई मेहता, जो मात्र मेरे ही नहीं, अनेकों के मित्र थे, गोदीकाजी के भी अभिन्न हृदय और अनन्य सहयोगी थे। सबको साथ लेकर चलने की जो क्षमता उनमें थी, वह अत्यन्त विरल है। जब-जब विघटन के प्रसंग आते हैं तो मुझे उनकी बहुत याद आती है कि यदि आज वे होते तो हम सबको यह चिन्ता न करनी पड़ती।

लोगों का विश्वास प्राप्त करना कोई आसान काम तो नहीं है, इसके लिए सहृदय होने के साथ-साथ सहृदय दिखना भी अत्यन्त आवश्यक है। आदरणीय बाबूभाईजी सहृदय थे भी और दिखते भी थे। जो भी हो, आज हम जिस किसी भी स्थिति में क्यों न हों; पर हमें इस जिम्मेवारी का निर्वाह करना ही होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री, बाबूभाई एवं गोदीकाजी के अथक प्रयासों से जो भी आध्यात्मिक वातावरण आज हमें उपलब्ध है, उसे टिकाये रखने और आगे बढ़ाने का महान उत्तरदायित्व हम सबके कंधों पर आज आ पड़ा है, जिसे निभाने का काम हम सबको मिल-जुलकर करना है। यदि विशाल हृदय और दूरदृष्टि से हमने इसका निर्वाह नहीं किया तो इसके परिणाम मात्र हमें ही नहीं भुगतने होंगे, अपितु इससे सम्पूर्ण वीतरागी तत्त्वज्ञान की यह निर्मल धारा भी प्रभावित होगी।

वीतरागी तत्त्वज्ञान की यह निर्मलधारा निरन्तर बहती रहे, दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती रहे; — यह बात हमारी मंगलकामनाओं तक ही सीमित न रहे, अपितु एक ऐतिहासिक सत्य बन जावे — इसके लिए समर्पित भाव से निरन्तर प्रयत्नशील रहना हम सबका ऐतिहासिक दायित्व है।

इस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व को संभालने का संकल्प आज हम सब मिलकर करें। यह संकल्प ही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी। इस दिशा में निरन्तर सक्रिय रहने के संकल्प के साथ ही मैं श्री गोदीकाजी को अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ। •

१६

लौहपुरुष श्री नेमीचंद पाटनी

(अभिनन्दन स्मरणिका, ६ फरवरी, १९९२ से)

वृद्धावस्था में भी जवानी के जोश से भरे, वीतरागी तत्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में सम्पूर्णतः समर्पित, जिन-अध्यात्म के तलस्पर्शी विद्वान, कर्तव्यनिष्ठ कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं गुरुगंभीर व्यक्तित्व के धनी, लौहपुरुष श्री नेमीचंदजी पाटनी से सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में आज कौन अपरिचित है? आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा संपन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को मूल दिगम्बर जैन समाज में प्रवाहित करने के भगीरथी प्रयास के प्रमुख सूत्रधारों में वे भी एक प्रमुख सूत्रधार हैं।

किसी मिशन के संचालन में जिस दूरदृष्टि एवं दृढ़ता की आवश्यकता होती है, वह उनके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है। आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा उद्घाटित जिनागम के रहस्यों के प्रति अडिग आस्था एवं जिनागम के उन रहस्यों के प्रचार-प्रसार की प्रबल भावना उनके रोम-रोम में प्रस्फुटित होती है। उनके जीवन का उत्तरार्द्ध सम्पूर्णतः इसी के लिए समर्पित रहा है।

विगत चौबीस वर्षों से मेरा उनसे अत्यंत निकट का सम्पर्क रहा है। वीतरागी तत्वज्ञान के प्रचार-प्रसार का कार्य हम दोनों इन वर्षों में कंधे से कंधा मिलाकर करते आ रहे हैं। हमारी मित्रता का आधार भी यह विचारों एवं कार्यशैली की समानता ही रही है। इसी कारण यह मित्रता उगते हुए सूर्य के समान निरन्तर प्रगाढ़ता को प्राप्त होती रही है।

इस अपनत्व और अभिन्नता के कारण उनके सन्दर्भ में कुछ भी लिखने में संकोच का अनुभव होता है। उनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखते समय ऐसा

लगता है कि जैसे मैं अपने बारे में ही कुछ लिखने जा रहा हूँ, तथापि जब आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रस्फुटित आध्यात्मिक क्रान्ति में उनके योगदान की चर्चा हो रही हो, तब भी कुछ न लिखने को भी मन बिल्कुल तैयार नहीं है।

यह तो सर्वविदित ही है कि आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी और उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति का परिचय मूल दिगम्बर जैन समाज को सर्वप्रथम उनकी तीर्थयात्राओं से ही प्राप्त हुआ था। इन तीर्थयात्राओं का सफल संचालन आदरणीय श्री नेमीचंदजी पाटनी ने ही किया था। इन यात्राओं ने स्वामीजी को तो मूल दिगम्बर समाज तक पहुँचाया ही, साथ ही पाटनीजी के दृढ़ और कर्मठ व्यक्तित्व को भी उजागर किया।

समयसार के भक्त स्वामीजी समय के भी पाबन्द थे। उन्हें जितना प्रिय समयसार था, उतना ही प्रिय समय पर सब कार्य करना भी था। चाहे घर हो या बाहर — स्वामीजी के आहार, विहार, प्रवचन, चर्चा सभी का समय बारहमासी सुनिश्चित ही था, उसमें कुछ भी फेरफार उनकी प्रकृति को स्वीकार नहीं था। हजारों यात्रियों के साथ की जानेवाली यात्रा में यह सब निभाना कोई आसान काम नहीं था, पर पाटनीजी की ही हिम्मत थी कि उन्होंने सबकुछ व्यवस्थित किया और उनकी यात्राओं का सफल संचालन किया। उससमय पाटनीजी ४०-४५ वर्ष के ही रहे होंगे, पर उनके व्यक्तित्व में जिस प्रौढ़ता के दर्शन होते थे, वह इस उम्र में बहुत कम देखने को मिलती है।

उससमय पाटनीजी की यह दृढ़ता जगप्रसिद्ध हो रही थी कि उन्होंने जो भी कार्यक्रम निश्चित कर दिया, उसमें फेरफार कराना संभव नहीं है। ऐसी दृढ़ता के बिना इतने बड़े संघ को सुव्यवस्थित चलाना संभव भी तो नहीं था।

बात सन् १९५६ की है, जब मैं २०-२१ वर्ष का ही था, पर क्रमबद्धपर्याय के प्रति अडिग आस्था मेरे जीवन का अंग बन चुकी थी और इसीकारण स्वामीजी के प्रति भी श्रद्धा जागृत हो गई थी। अभी तक उन्हें देखा नहीं था, पर उनके साहित्य का अवलोकन अवश्य किया था। साल-छह माह पहले ही रुचि जागृत हुई थी; अतः नया-नया जोश था।

जब यह पता चला कि स्वामीजी ससंघ ललितपुर से सोनागिर जा रहे हैं और वे बबीना से ही पास होने वाले हैं तो हमारी यह भावना प्रबल हो उठी कि बबीना में उनका स्वागत किया जाय और उनके प्रवचन का लाभ भी लिया जाय। उस समय हम बबीना में ही रहते थे।

तदर्थ पाटनीजी से सम्पर्क किया गया, पर पाटनीजी की जो प्रसिद्धि थी, वह सच साबित हुई, पर इस असफलता ने हमारे निश्चय को और भी दृढ़ कर दिया।

हमने सड़क के किनारे स्टेज बनाया, बिछात बिछाई, आवश्यक छाया की और बबीना की सम्पूर्ण जैन समाज को वहाँ एकत्रित कर लिया और स्वामीजी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। जबतक स्वामीजी नहीं आये, तबतक भक्ति और प्रवचन के माध्यम से सभी को व्यस्त रखा।

जब स्वामीजी की गाड़ी व यात्रियों की बसें दिखाई दीं तो सभी लोग झंडे लेकर बीच सड़क पर खड़े हो गये। पाटनीजी बताते हैं कि उस समय उस एरिया में डाकुओं का बड़ा डर था। अत: बीच सड़क पर इतनी भीड़ देखकर वे सशंकित हो उठे थे।

स्वामीजी की गाड़ी आयी और हमने उन्हें रोक लिया। उन्हें सारी स्थिति बताई और आधा घंटा प्रवचन करने का अनुरोध किया कि इतने में ही पाटनीजी अपनी गाड़ी से उतर कर आ गये और रोकने के इस तरीके पर अपनी नाराजगी व्यक्त करने लगे, पर स्वामीजी तबतक गाड़ी से उतर चुके थे और स्टेज की तरफ चल दिये थे। इस तरह पाटनीजी की दृढ़ता अपनी जगह कायम रही और हमारी भावना भी फलीभूत हो गई।

पीछे-पीछे आने वाली संघ की बसें भी खड़ी होने लगीं और उनके यात्री उतरने लगे। सभी को संतरे आदि फल समर्पित किये गये और स्वामीजी का भी स्वागत किया गया। मुझे अच्छी तरह याद है कि स्वामीजी के स्वागत में दो शब्द भी मैंने ही बोले थे। स्वामीजी ने मांगलिक किया और स्वामीजी सहित सम्पूर्ण संघ सोनागिर को रवाना हो गया। हम भी सामान समेट कर दुकान व घर का ताला बंद करके पूरे परिवार सहित उसी दिन सोनागिर पहुँच गये।

उनके साथ तीन दिन रहे और उनके प्रवचन और चर्चा का भरपूर लाभ लिया, अपनी शंकाएँ रखीं और उनका समाधान भी प्राप्त किया।

स्वामीजी के प्रत्यक्ष परिचय का भी यह प्रथम अवसर था और पाटनीजी से मिलने का भी यही प्रथम प्रसंग था; जिसमें उनकी प्रतिभा, कर्मठता, दृढ़ता एवं गुरुदेवश्री के प्रति समर्पण के एकसाथ दर्शन हुए थे।

गुरुदेवश्री की यात्राओं से दिगम्बर समाज को उनका परिचय तो प्राप्त हो गया था, समाज उनसे प्रभावित भी हो रहा था, इस कारण उनका विरोध भी आरंभ हो गया था, पर उस विरोध से निबटते हुए उनके तत्त्वज्ञान को समाज में गहराई से पहुँचाने का कार्य बाकी था। आदरणीय विद्वद्वर्य श्री खीमचन्द भाई यदाकदा हिन्दी भाषी प्रान्त में आते थे, आदरणीय बाबूभाई का आना-जाना भी आरंभ हुआ था, पर व्यवस्थित रूप से जो कार्य होना चाहिए था, वह नहीं हो पा रहा था, किन्तु खीमचंदभाई के बोलों ने एवं बाबूभाई की भक्ति व आचरण ने समाज के हृदय को छूने का सफल प्रयास अवश्य किया था। मैं भी अपने तरीके से उक्त कार्य में संलग्न था।

मैंने अनेक बार खीमचंदभाई से चर्चा की थी कि इसप्रकार यह गंभीर तत्त्व समाज के गले नहीं उतरेगा। उसके लिए कुछ ऐसा करना होगा कि जिससे बात समाज की जड़ तक पहुँचे, तदर्थ कुछ योजनायें भी उनके सामने रखी थीं; पर बात आई-गई हो जाती थी।

ऐसे ही समय में गोदीकाजी के तन-मन-धन के समर्पण से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का उदय हुआ और पाटनीजी जैसे कर्मठ व्यक्तित्व ने उसका मंत्री पद संभाला। पाटनीजी भी कुछ ऐसा करना चाहते थे कि जिससे मूल दिगम्बर समाज में तत्त्वज्ञान का गहराई से प्रवेश हो। तदर्थ उन्होंने पाटनी ग्रंथमाला चलाकर उससे हिन्दी में समयसारादि का प्रकाशन किया था। मास्टर हीराचंदजी से कुछ बच्चों की पुस्तकें भी बनवाई थीं, स्वयं भी बालबोध की पुस्तकें लिखी थीं, पर बात बन नहीं पा रही थी।

इसी बीच जब गोदीकाजी ने इन्दौर शिविर में मुझसे जयपुर आकर टोडरमल स्मारक का काम संभालने का अनुरोध किया और मैंने कुछ आनाकानी की तो खीमचंदभाई बोल उठे —

"हमेशा तो हमें योजनाएँ बताते रहते हो और अब अवसर आया है तो पीछे हट रहे हो। जो आप चाहते हो, वही गोदीकाजी और पाटनीजी भी चाहते हैं। अत: आप निश्चिंत होकर यह कार्य करो।"

इसप्रकार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से पाटनीजी के नेतृत्व में यह महान कार्य आरंभ हुआ, जिसमें गोदीकाजी का तो सर्वस्व समर्पण था ही, खीमचंदभाई और बाबूभाई का भी पूर्ण सहयोग था। गुरुदेवश्री का मंगल आशीर्वाद उनके जीवन के अंतिम क्षण तक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को प्राप्त रहा और मेरा तो पूरा जीवन ही इसमें लग गया था। आज हम जहाँ खड़े हैं, उसके प्रस्थान की यह संक्षिप्त कहानी है।

आज न हमारे बीच खीमचंदभाई हैं, न बाबूभाई और न गोदीकाजी भी हैं; पर पाटनीजी अडिग चट्टान की तरह अकेले ही इस भार को उठाये हुए खड़े हैं और उनके सफल नेतृत्व में तत्त्वप्रचार का महान कार्य दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति कर रहा है।

तत्त्वज्ञान के महान कार्य के प्रति समर्पण के दो प्रसंग मेरे स्मृतिपथ में आ रहे हैं। प्रथम तो महावीर निर्वाण वर्ष में सोनगढ़ में सम्पन्न पंचकल्याणक की बात है और दूसरी सेठी कालोनी, जयपुर में सम्पन्न पंचकल्याणक की बात है।

सोनगढ़ पंचकल्याणक की व्यवस्था का सर्वाधिक भार पाटनीजी के कंधों पर ही था कि उनके सगे बहनोई अत्यधिक बीमार हो गये, मरणान्तिक अवस्था में पहुँच गये। उन्हें भावनगर अस्पताल के आपातकालीन वार्ड में भर्ती कराना पड़ा। ऐसी स्थिति में भी आप विचलित नहीं हुए। सम्पूर्ण कार्य को वैसे ही संभाले रखा, जैसे सामान्य स्थिति में भी संभालते थे। दिन भर पंचकल्याणक का कार्य करते और रात को ११ बजे भावनगर उनकी सेवा में पहुँचते, फिर प्रात: ५ बजे अपनी ड्यूटी पर आ जाते।

सेठी कालोनी, जयपुर के पंचकल्याणक के बीच में ही आपके बड़े पुत्र श्री सुरेन्द्रकुमारजी पाटनी का ५१ वर्ष की उम्र में ही अचानक देहावसान हो गया। यह पाटनी परिवार पर वज्रपात था। हम सब उनकी श्मशानयात्रा में गये थे। पाटनीजी तो थे ही। संध्या का समय था और चिता जल रही थी। इसी बीच पाटनीजी मेरे पास आये और बोले —

"डॉक्टर साहब! आप जाइये, आपको प्रवचन करना है, यहाँ तो हम सब हैं ही।"

मैंने कहा — "आप क्या कह रहे हैं? ऐसे अवसर पर मैं कैसे जा सकता हूँ? आज कोई और प्रवचन कर लेगा, अनेक विद्वान वहाँ उपस्थित हैं।"

वे बड़ी ही गंभीरता से बोले —

"इस औपचारिकता में क्या रखा है? आपको सुनने हजारों लोग आये हैं, उन्हें आपका लाभ मिलना ही चाहिए। यह सब तो चलता ही रहेगा, यह सब तो दुनिया है। आप तो जाइये।"

मैंने फिर कहा — "अभी तो देर है, थोड़ी देर बाद चला जाऊँगा।"

वे बोले — "नहीं, आप अभी ही चले जाइये। आप घर जायेंगे, नहायेंगे, कपड़े बदलेंगे, सर्दी बहुत है, थोड़ा ताप लीजिए, अन्यथा तबियत खराब हो जायेगी।" — ऐसा कहते हुए तबतक खड़े रहे, जबतक कि मैं वहाँ से चल नहीं दिया।

मेरे साथ अनेक और लोग भी सोचते ही रह गये कि ये किस मिट्टी के बने हुए हैं। इतना धैर्य क्या तत्त्वज्ञान की गहराई के बिना सम्भव है? तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की इतनी प्रबल भावना किन-किन में है? यह अपनी-अपनी छाती पर हाथ रखकर देखने की बात है? **जरा-सी प्रतिकूलता आने पर हम प्रवचन नहीं करेंगे या इस काम में सहयोग नहीं देंगे। इसप्रकार की प्रवृत्तिवालों को अपने अंतर को गहराई से देखने की महती आवश्यकता है और पाटनीजी के आदर्श जीवन और विचारों से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता भी है।**

वीतरागी तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने का कोई भी अवसर चूकना उन्हें स्वीकार नहीं होता, अपितु उसका अच्छे से अच्छा उपयोग कर लेना उनकी अपनी विशेषता है।

शिविरों में वीतरागी तत्त्वज्ञान सीखने की भावना से आनेवाली जनता के समय और भावना की उनकी दृष्टि में कितनी कदर है? इसे भी मैंने अनेक प्रसंगों में गहराई से अनुभव किया है। शिविरों में २०-२० दिनों तक रहकर

सम्पूर्ण व्यवस्था का भार अपने सिर पर ढोकर भी तथा स्वयं प्रवचनकार होने पर भी स्वयं एक भी प्रवचन नहीं करते, अपितु उन्हीं लोकप्रिय प्रवक्ताओं के प्रवचन कराते कि जिनसे जनता को अधिकतम लाभ पहुँचने की संभावना रहती है और जिन्हें सुनने की भावना से जनता शिविरों में आती है।

आदरणीय बाबूभाईजी की भावना रहती कि थोड़ा बहुत समय उन लोगों को भी दिया जाय, जो समाज में अपना प्रभाव रखते हैं, भले ही वे मूल तत्त्वज्ञान से अपरिचित हों; क्योंकि उनके अनुकूल बने रहने से समाज में तत्त्वप्रचार की गतिविधियों के चलाने में बाधायें खड़ी न होंगी, पर पाटनीजी का यही कहना रहता कि **किसी को खुश करने के लिए जनता के बेशकीमती समय की रेवड़ी बाँटना कतई उचित नहीं है। यदि हमने ऐसा किया है तो उसकी कोई मर्यादा नहीं रहेगी और धीरे-धीरे समय का बहुत बड़ा भाग उन्हीं की भेंट चढ़ जायगा।** परिणाम यह होगा कि तत्त्वप्रेमी जनता इन शिविरों से भी उसीप्रकार उदास हो जायेगी, जिसप्रकार समाज के अन्य कार्यक्रमों से रहती है।

उक्त स्थिति में कभी पाटनीजी की चलती, कभी बाबूभाई की; पर जो भी होता दोनों की परस्पर सहमति से ही होता था। कभी कोई ऐसा प्रसंग नहीं बना कि जिसने तनाव पैदा किया हो। आपस की इस गहरी समझदारी की मुमुक्षु समाज को आज अत्यधिक आवश्यकता है।

कर्मचारियों और कार्यकर्त्ताओं से काम लेना उन्हें अच्छी तरह आता है। कठोर प्रशासक के रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं ही, पर उनका मानना है कि कार्यकर्त्ताओं और कर्मचारियों को कार्य करने में क्या कठिनाई आ रही है, — यह जानना और उसका निराकरण करना भी प्रशासक का उत्तरदायित्व है। जबतक उस समस्या का उचित समाधान नहीं निकाला जायगा, जिससे कार्य में रुकावट आ रही है, तबतक कार्य में सफलता मिलना संभव नहीं है।

समस्याओं से घबड़ाना तो उनकी प्रकृति में ही नहीं है। शोभा के पदों पर रहना भी उन्हें स्वीकार नहीं होता। जिस संस्था से जुड़ते हैं, पूरी सक्रियता

के साथ ही जुड़ते हैं; जो भी पद संभालते हैं, पूरी तत्परता के साथ संभालते हैं। जहाँ से हटते हैं, उसे चित्त में से भी हटा देते हैं। जबतक सोनगढ़ से जुड़े रहे, तबतक उसे पूरी तरह संभालते रहे; वहाँ से हटे तो अब वहाँ के बारे में कुछ सोचने को भी तैयार नहीं हैं। सम्प्रति वे पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को पूरी तन्मयता से संभाल रहे हैं।

देश में हजारों संस्थायें हैं और उनके मंत्री भी हैं ही, पर ऐसा मंत्री कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा, जो संस्था के छोटे-बड़े सभी कामों में तिल में तेल के समान समाहित हो, घर-परिवार के सब काम छोड़कर संस्था के लिए ही पूर्णतः समर्पित हो, जिसके रोम-रोम में तत्त्वज्ञान समाहित हो और संस्था के प्रत्येक कार्यकलाप पर जिसकी मजबूत पकड़ हो। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर से जो भी कार्य आज हो रहा है, उसका सर्वाधिक श्रेय श्री नेमीचंदजी पाटनी को ही है। इसके प्रत्येक कार्य पर उनके दृढ़ व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट नजर आती है।

कुछ लोगों की दृष्टि मात्र कमियाँ ही देख पाती है, उन्हें प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ खोट ही नजर आती है। ऐसे लोग सदा असन्तुष्ट ही बने रहते हैं। कुछ लोग मात्र अच्छाइयाँ ही देखते हैं, उन्हें कहीं कोई खराबी दिखाई ही नहीं देती है। ऐसे लोग भी समाज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होते; क्योंकि उनके संरक्षण में कभी-कभी बड़े-बड़े अपराध भी पनपते रहते हैं, पर उन्हें कुछ लगता ही नहीं। परिणामस्वरूप धर्म और धर्मायतन बदनाम हो जाते हैं।

ऐसे लोग बहुत कम होते हैं, जो व्यक्तियों की अच्छाइयों और बुराइयों की जड़ तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं, बुराइयों पर अंकुश लगाना जानते हैं, अच्छाइयों को प्रोत्साहित करना जानते हैं और निंदा प्रशंसा से अप्रभावित रहकर व्यक्तियों को, मिशन को, संस्थाओं को अपने सुनिश्चित पथ पर अडिग रखते हैं, झंझावातों से बचाये रखते हैं, गलत लोगों से सुरक्षित रखते हैं एवं सन्मार्ग पर निरन्तर गतिशील भी रखते हैं।

पाटनीजी उन्हीं लोगों में से हैं। यही कारण है कि उनकी छत्रछाया में जो भी व्यक्ति व संस्थायें रहीं; वे सुरक्षित रहीं, निरन्तर गतिशील रहीं और प्रगति पथ पर अग्रसर होती रहीं। जिन व्यक्तियों या संस्थाओं ने उनके सलाह-मशविरों की उपेक्षा की, वे अपने मार्ग से भटक गईं, उन्हें अपनी साख गवानी पड़ी। उन जैसा सलाहकार, उन जैसा मित्र मिलना भी बड़े भाग्य की बात है। उससे भी बड़ी बात है, उनकी मित्रता और सलाह का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना।

यद्यपि अब वे अपने में सिमटते जा रहे हैं, अधिक आत्मोन्मुखी होते जा रहे हैं; अभी जो कर रहे हैं, उससे भी हटते जा रहे हैं, नया कुछ करने की तो बात ही नहीं है; तथापि उन्हें लम्बे सामाजिक जीवन का अनुभव हैं, उनके अनुभव का लाभ उठाया जा सकता है, उठाया जाना चाहिए।

अधिक क्या, वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में संलग्न संस्थाओं को, व्यक्तियों को उनका मार्गदर्शन चिरकाल तक प्राप्त होता रहे और वे हमारे बीच चिरकाल तक रहकर आत्मसाधना में निरन्तर गतिशील रहें। — इस मंगल भावना से विराम लेता हूँ। •

सबकुछ सुनिश्चित

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लम्बाई है, उस लम्बाई में जहाँ जो चित्र स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है;

उसीप्रकार चलती हुई रील में कौनसा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमें भी फेर-फार सम्भव नहीं है। आगे कौनसा चित्र आएगा — भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयेगा वो वह अपने नियमितक्रम में ही।

क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२३

१७

खानियाँ तत्त्वचर्चा

एक इन्टरव्यू : श्री नेमीचन्दजी पाटनी से

जयपुर (खानियाँ) में हुई उभयपक्षीय लिखित तत्त्वचर्चा के सम्बन्ध में कुछ लोगों द्वारा जानबूझ कर भ्रम फैलाये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में समाज को सही-सही जानकारी प्राप्त हो इस उद्देश्य से उक्त चर्चा में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले श्री नेमीचन्दजी पाटनी से 'जैनपथ प्रदर्शक' के लिए हमारे स्तम्भ लेखक विवेकी (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) द्वारा दिनांक १२-७-७७ को यह इन्टरव्यू लिया गया। आशा है इस इन्टरव्यू से काफी भ्रम साफ होंगे। — सम्पादक

"जिनके हस्ताक्षर मौजूद हैं, यदि वे दिग्गज विद्वान भी ऐसी बाते करें तो क्या किया जा सकता है ?" उक्त शब्द श्री नेमीचन्दजी पाटनी ने उस समय कहे, जब उनसे पूछा गया कि आप तो खानियाँ तत्त्वचर्चा के प्रकाशक हैं। क्या उसमें कुछ फेर-बदल कर दिया है? बड़े-बड़े विद्वानों के जैनपत्रों में आजकल ऐसे लेख आ रहे हैं, जिनमें यह आरोप खुलकर लगाये जा रहे हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए पाटनीजी बोले — "जयपुर (खानियाँ) में हुई तत्त्वचर्चा की विधि ऐसी रखी गई थी कि उसमें कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार की फेरबदल कर ही नहीं सकता था। जो भी प्रश्नोत्तर होते थे, वे सभी लिखित रूप से होते थे। मध्यस्थों के माध्यम से उनके हस्ताक्षर होकर आदान-प्रदान किये जाते थे। प्रत्येक प्रश्नोत्तर की तीन प्रतियाँ तैयार होती थीं और उन पर दोनों पक्ष के विद्वानों एवं मध्यस्थों के हस्ताक्षर होते थे। अत: बदला-बदली की कहीं कोई गुंजाइश ही न थी।"

प्रश्न — उस समय कोई गुंजाइश न रही हो, पर बाद में प्रकाशित करते समय आप ने कोई फेर-बदल कर दी हो तो ?

उत्तर — उनके पास इसकी मूलकापी की एक प्रति है। वे उससे मिलान कर लेवें और फिर बतावें कि हमने क्या बदला है, तब तो कोई बात हो। वैसे ही लिखते रहें कि बदल दिया है; बदल दिया है, तो हम क्या करें? आज तक किसी ने यह तो बताया नहीं कि क्या बदला है? वैसे ही कहते रहते हैं, इसके लिए हम क्या करें?

प्रश्न — जब यह चर्चा हुई तब क्या आप वहाँ थे ?

उत्तर — कैसी बात करते हैं? मैं था ही नहीं, बल्कि मैंने उसमें सक्रियता से भाग लिया है। मैं उसमें विद्वानों की हैसियत से आमंत्रित था और एक पक्ष की ओर से चर्चा में सक्रिय भाग ले रहा था। यह सब बातें खानियाँ चर्चा के प्रकाशकीय और संपादकीय में स्पष्ट उल्लिखित हैं।

मैं आपको जो बात बता रहा हूँ, वह मात्र सुनी-सुनाई नहीं है; किन्तु आँखों देखी बात है। आदान-प्रदान किये गए समस्त पत्रों पर मेरे हस्ताक्षर हैं। खानियाँ चर्चा में हमने उनके फोटो प्रिंट भी छापे हैं। आप देखियेगा।

प्रश्न — सुना तो यह था कि यह चर्चा दोनों पक्ष के खर्चे से छपेगी, फिर आपने क्यों छापी ?

उत्तर — दोनों पक्ष की ओर से छापने के लिए हमने उनसे बहुत आग्रह किया, पर वे टालते ही रहे।

प्रश्न — वे क्यों टालते रहे? क्या पैसों की .....

उत्तर — पैसों की तो क्या बात हो सकती है? ऐसा लगता है कि वे ऐसा अनुभव करते हों कि उनका पक्ष इस चर्चा में कमजोर पड़ गया है। अतः छपाने को उत्सुक नहीं थे।

प्रश्न — तो क्या आप जीत गये हैं?

उत्तर — इसमें जीत हार का प्रश्न ही कहाँ उठता है। पर यह बात सत्य है कि इस चर्चा से सत्य सामने आ गया है। हम सत्य के प्रति आस्थावान हैं और वे उससे कतराते हैं। इसीलिए ऐसी बातें करते हैं।

प्रश्न — यदि वे अपने पक्ष की कमजोरी अनुभव करते हैं तो फिर दुबारा चर्चा करने के लिए चैलेंज क्यों देते हैं ?

उत्तर — यह तो उनका स्वभाव ही है। इसके बारे में मैं क्या कहूँ? पहले भी इसी तरह कहते थे कि ये लोग चर्चा करने को तैयार नहीं, डरते हैं, कुछ जानते नहीं, हमारे सामने आ नहीं सकते। जब चर्चा आचार्य शिवसागरजी महाराज के सान्निध्य में शांतिपूर्वक सम्पन्न हो गई तो उसे अप्रमाणित कहने लगे और फिर वही राग अलापने लगे हैं।

प्रश्न — तो आप फिर दुबारा चर्चा क्यों नहीं कर लेते? जब आपकी बात सत्य है, आपको अपनी बात पर पूरा भरोसा है तो आप फिर एक बार चर्चा करने से क्यों इन्कार करते हैं?

उत्तर — जब एक बार की चर्चा से ही कुछ निष्कर्ष नहीं निकला, झगड़ा वैसे का वैसा ही कायम रहा तो अब बारबार चर्चा करने से भी क्या होगा? अब जो चर्चा की जावेगी, उसका भी वही हाल होगा, जो इसका हुआ। वे फिर कहने लगेंगे बदल दी।

प्रश्न — अब की बार ऐसी व्यवस्था की जाए कि वे कुछ भी न कह सकें।

उत्तर — व्यवस्था में पहिले भी क्या कसर रखी थी; पर जिसे कहना ही है, उसे कौन रोक सकता है?

प्रश्न — यदि उनके आरोप में सत्यता हो तो? यह आप कैसे कह सकते हैं कि वे उसमें अपनी कमजोरी अनुभव करते हैं।

उत्तर — इसलिए कि यदि वे उस चर्चा को ठीक मानते हैं, अपना पक्ष प्रबल मानते हैं, और यदि हमने उसे फेरफार करके छापा है तो उनके पास उसकी मूलप्रति है, वे उसे छापें और सारे समाज में बाँटे, दूसरी चर्चा की क्या आवश्यकता है। उनके कहे अनुसार मानलो कि हमने तो पलट दी, पर वे तो सही-सही छापें।

प्रश्न — यदि उन्होंने भी फेर बदल कर छापा तो आप क्या करेंगे?

उत्तर — हमारे पास इसकी मूल प्रति है। उसकी फोटो छापकर सारी समाज के सामने रख देंगे। समाज अपने आप सब देख लेगी।

और आप दूसरी बार चर्चा करने की कहते हैं सो चर्चा क्या गालीगलौच के वातावरण में होती है? एक ओर तो गैर दिगम्बर घोषित करते जाते हैं और फिर चर्चा की भी बात करते हैं। एक ओर गालियां बकते जाते हैं और दूसरी ओर सद्भावना की बातें करते हैं। जिनवाणी के अपमान की अपील करते हैं और सद्भावना की बातें करते जाते हैं। क्या इसी का नाम सद्भावना है ?

हमारी ओर से चर्चा में भाग लेने वाले आदरणीय विद्वद्वर्य पण्डित जगन्मोहनलालजी जैसे प्रामाणिक व्रती विद्वान पर 'पैसा बोल रहा है' जैसे गंदे लेख लिखे जाते हैं और शांति की बात करते जाते हैं। आप क्या चाहते हैं कि ऐसे लोगों से चर्चा की जावे, जिन्हें सामान्य सद्व्यवहार करना भी नहीं आता ?

प्रश्न — यह तो ठीक है कि बिना सद्भाव का वातावरण बनाये किसी भी प्रकार की चर्चा संभव नहीं है, पर यदि कुछ दिनों दोनों ओर से ही आलोचना-प्रत्यालोचना बन्द कर दी जावे और चर्चा के योग्य वातावरण बनाया जावे तो फिर वातावरण ठीक होने पर चर्चा हो सकती है ?

उत्तर — हो क्या नहीं सकता? पर कोई करना चाहे तब। जिसे लड़ना ही है, उससे क्या बात हो सकती है? पहिले वे या तो हमारे द्वारा प्रकाशित खानियाँ चर्चा प्रमाणित घोषित करें या फिर जो उनके पास प्रति है, उसके आधार पर छापें। यदि फिर भी आवश्यकता रही तो दुबारा चर्चा हो जावेगी।

प्रश्न — मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई की वातावरण ठीक हो जावे और खानियाँ चर्चा उनकी ओर से भी प्रमाणिक हो जावे, उसका पर्याप्त वितरण हो जावे, यदि फिर भी आवश्यकता हुई तो आप चर्चा करने को तैयार हैं?

उत्तर — आपने इतनी बात कही सो हमें इतना कहना पड़ा है। अन्यथा स्वामीजी का तो यही कहना है कि कहाँ झगड़ों में मनुष्य भव बर्बाद करते

हो? समय रहते आत्महित कर लेना ही बुद्धिमानी है। यह दुनिया तो इसीप्रकार चलती रहेगी। इसमें उलझना ठीक नहीं।

गुरुदेव की महान कृपा से हमें वस्तुस्वरूप की रुचि हो गई है, सो हम भी इसी में भला समझते हैं कि उनका भला-बुरा उसके भावों के अनुसार होगा, हमें तो अपने भावों को पवित्र रखना चाहिए।

गुरुदेव श्री तो सदा ही कहते रहते हैं कि दृष्टि को जगत से हटाकर अपनी ओर ले आओ, जगत को क्या देखते हो, अपने को देखो। यदि जगत की ओर देखोगे तो राग-द्वेष की ही उत्पत्ति होगी — आत्मा का अहित ही होगा।

●

उत्तेजनात्मक हथकण्डों की उम्र बहुत कम होती है। उत्तेजना में आदमी को अनंत प्रयत्नों के बाद भी बहुत देर तक रखा नहीं जा सकता है। जिसप्रकार पानी को बहुत देर तक गर्म रखा नहीं जा सकता है, वह निरन्तर शीतलता की ओर दौड़ता रहता है, यदि उसे अग्नि का संयोग देते रहकर निरन्तर गर्म रखने का प्रयास किया गया तो वह रहेगा ही नहीं, समाप्त हो जावेगा, भाप बनकर उड़ जावेगा। उसे यदि अधिक काल तक रखना है तो शीतल ही रखना होगा। गर्म रखने के लिए ईंधन भी चाहिए, पर ठण्डा रखने के लिए कुछ भी नहीं चाहिए।

इसीप्रकार समाज को शान्त रखने के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं, पर उत्तेजित रखने के लिए निरन्तर प्रयास चाहिए। निरन्तर के प्रयासों से समाज को उत्तेजित रख पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, तथा यदि रखने का प्रयास किया गया तो अनेक समस्यायें उठ खड़ी होंगी, जिनसे समाज को बचाना सम्भव न होगा।

सत्य की खोज, पृष्ठ-२१६-२१७

१८

एक इन्टरव्यू : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से

महाराष्ट्र के नगर वाशिम में श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर दिनांक २७-५-८० को जैन यूथ फोरम के मुख पत्र 'छत्रत्रय' तमिल मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री प्रोफेसर आदिनाथन् ने डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल से टोडरमल स्मारक भवन में संचालित-गतिविधियों के संदर्भ में एक इन्टरव्यू लिया, जिसे 'छत्रत्रय' तमिल जुलाई ८० के अंक में प्रकाशित किया गया है। उपयोगी जानकर पाठकों की जानकारी के लिए उसे यहाँ (जैनपथप्रदर्शक अगस्त द्वितीय १९८० में से) दिया जा रहा है। — सम्पादक

प्रश्न — आप टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय एवं वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड के निदेशक हैं। इस पद पर रहकर आप कौनसा श्रेष्ठ कार्य करना चाहते हैं?

उत्तर — वर्तमान युग में न्याय, सिद्धान्त और अध्यात्म के विद्वानों की परम्परा लुप्तप्राय: होती जा रही है तथा वर्तमान भौतिक वातावरण से धार्मिक संस्कार और सामान्य तत्त्वज्ञान भी जैन समाज से समाप्तप्राय: होता जा रहा है। इस महाविद्यालय एवं विद्यापीठ के माध्यम से हम जैनदर्शन और अध्यात्म के ऐसे उच्चकोटि के विद्वान तैयार करना चाहते हैं, जो जैनदर्शन की शोध-खोज के साथ-साथ प्रचार और प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकें तथा जो अपना कार्यक्षेत्र आजीवन दिगम्बर जैनसमाज को ही बनाए रखें, जिससे उनकी सेवाओं का पूरा-पूरा लाभ दिगम्बर जैनसमाज व जैनदर्शन को हो सके तथा शिविरों के माध्यम से ऐसे अध्यापक भी तैयार करना चाहते हैं, जो बालकों में जैनतत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर सकें, सामान्य तत्त्वज्ञान

करा सकें व उन्हें नैतिक सदाचार से युक्त नैतिक जीवन बिताने के लिए प्रेरित कर सकें। हमें इस कार्य में सफलता भी मिल रही है।

प्रश्न — विद्याध्ययन के लिए आयु की कोई सीमा नहीं है। एक व्यक्ति को जैनतत्त्वज्ञान और व्यवहारिक पूजा विधि आदि सीखने के लिए कितने वर्ष लगेंगे ?

उत्तर — विद्याध्ययन के लिए ६ वर्ष का कोर्स है। १ वर्ष का उपाध्याय, ३ वर्ष का शास्त्री तथा २ वर्ष का आचार्य। इसमें बोर्ड की सैकेण्ड्री परीक्षा पास किसी भी उम्र के छात्र को लिया जाता है। जो ६ वर्ष का लम्बा समय न दे सकें; वे ४ वर्ष में भी शास्त्री होकर जैनदर्शन में ग्रेजुएट हो सकते हैं।

प्रश्न — उत्तर भारत में आम जनता की भाषा हिन्दी होने से आपके विद्यालय में पढ़ने वाले हिन्दी भाषी विद्यार्थियों को तो भाषा की दृष्टि से सुविधा रहती है; परन्तु दक्षिण के तमिल आदि भाषा-भाषियों के लिए अवसर कम नजर आते हैं। अत: उनके हितार्थ आपकी दृष्टि में क्या किया जा सकता है ?

उत्तर — हमारे महाविद्यालय में महाराष्ट्र और कर्नाटक के १४-१५ छात्र हैं और उन्हें भाषा की कोई विशेष कठिनाई नहीं है, आने के बाद वे एकाध वर्ष के भीतर ही काम चलाने लायक हिन्दी भाषा सीख लेते हैं। आप तमिल भाषा के भी छात्र भेजिए, हम उन्हें पूरा-पूरा सहयोग देंगे और उन्हें जैनदर्शन का उच्चकोटि का विद्वान बनाने का प्रयत्न करेंगे। जबतक नई पीढ़ी में तमिल भाषी २-३ अच्छे विद्वान तैयार नहीं हो जाते, तबतक स्वतन्त्र रूप से तमिलनाडु में कुछ किया जाना संभव नहीं लगता।

प्रश्न — आपके यहाँ धर्मप्रचार के लिए प्रचारक बहुत हैं। क्या आप तमिल प्रान्त के लिए प्रचारक भेजकर वहाँ की कमी को पूरा कर सकते हैं?

उत्तर — यह तो सही है कि हमारे पास प्रचारक बहुत हैं, परन्तु मांग के अनुपात में कम हैं; क्योंकि उत्तर भारत में अध्यात्म सुनने और समझने की रुचि जिस तेजी से जागृत हुई है, उसकी आधी पूर्ति भी हम नहीं कर पा रहे हैं। शिविरों की मांग इस तेजी से है कि ४-४ वर्ष तक उनका नम्बर नहीं आ

पाता है। इसी को देखिए न यह महाराष्ट्र का शिविर ५ वर्ष के निरन्तर आग्रह के बाद इस वर्ष लग पाया है। तमिल प्रान्त में प्रचारक भेजने में सबसे बड़ी कठिनाई भाषा की ही है। यह कमी तो तभी पूरी हो सकती है, जब कुछ तमिल भाषी लोग भी जैनदर्शन के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से महाविद्यालय में प्रवेश लें। मेरा आपसे पुनः यही कहना है कि आप तमिल प्रान्त के छात्रों को महाविद्यालय में प्रवेश दिलाएँ।

प्रश्न — आप जो शिविर चलाते हैं, क्या इसकी पत्राचार के माध्यम से भी शिक्षा प्रदान करने की कोई व्यवस्था संभव है, जिससे हम अपनी मातृ-भाषा में तत्त्व सीख व समझ सकें ?

उत्तर — यह संभव नहीं है; क्योंकि इसमें प्रायोगिक शिक्षण (प्रेक्टिकल टीचिंग) अधिक है; जो पत्राचार द्वारा संभव नहीं है। आप स्वयं यहाँ देख ही रहे हैं कि प्रायोगिक शिक्षण कितना अधिक हो रहा है, अब आप स्वयं ही बताइये कि क्या यह पत्राचार द्वारा संभव है?

प्रश्न — अभी हाल ही में आपकी दो पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित हुई हैं, पढ़कर बहुत प्रभावित हुआ। इसीप्रकार अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित होना चाहिए। आपकी प्रतिपादन शैली वर्तमान नवयुवकों को खूब आकर्षित करती है।

उत्तर — अंग्रेजी के अच्छे अनुवादक नहीं मिलते हैं, यदि आपकी दृष्टि में कोई हो तो बताइये। वैसे हम भी प्रयास कर रहे हैं। मेरी अधिकांश पुस्तकों के अनुवाद मराठी, गुजराती, कन्नड और तमिल में प्रकाशित हो ही चुके हैं, जिनके शेष हैं, उनके हो रहे हैं। आगामी बाहुबली सहस्राब्दी तक अनेक पुस्तकों के अनुवाद उक्त भाषाओं में प्रकाशित करने की योजना है। हमारे साहित्य को जनता ने बहुत पसन्द किया है। अब तक मेरी कृतियों की ५-६ भाषाओं में ८ लाख[१] से ऊपर प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रश्न — अब मैं व्यवाहारिक प्रश्नों को छोड़कर निश्चय पर प्रश्न करना चाहता हूँ।

---

१. यह संख्या सन् ८० की है। अभी तक तो आपकी ४० लाख प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी है।

उत्तर — आपको जो पूछना है नि:संकोच पूछिए न।

प्रश्न — आप लोग निश्चय पर तो जोर देते हैं, पर व्यवहार की ओर से उदासीन रहते हैं। ऐसी एक हवा उड़ायी जा रही है, क्या यह सच है ?

उत्तर — हाँ, यह बात तो सच है कि हम निश्चय पर जोर देते हैं; क्योंकि मूल मुक्ति का मार्ग तो निश्चय ही है, किन्तु हम व्यवहार के प्रति भी उदासीन नहीं हैं, अपितु सम्यक् व्यवहार पर भी उतना ही जोर देते हैं, जितना कि निश्चय पर; क्योंकि निश्चय का प्रतिपादक तो व्यवहार ही है। फिर आप ही बताइये कि ये शिविर, यह विद्यापीठ, यह महाविद्यालय, यह साहित्य प्रकाशन, यह तीर्थों की सुरक्षा — क्या यह सब निश्चय है; यह सब व्यवहार ही तो है। सुबह ५ बजे से रात्रि १० बजे तक पूजन-भक्ति और पठन-पाठन का क्रम जो कि आप देख रहे हैं क्या यह सब सम्यक् व्यवहार नहीं है, यदि है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि हम व्यवहार के प्रति उदासीन हैं?

प्रश्न — वर्तमान में प्रचलित व्यावहारिक धार्मिक क्रियाओं में आपको क्या कोई कमी या न्यूनता नजर आती है ? अगर आती है तो आगमानुसार दिखाई देने वाली कमी क्या है ?

उत्तर — सबसे बड़ी कमी यह हैं कि ज्ञान और विवेक की कमी के कारण हमारी सब धार्मिक क्रियाएँ भावशून्य और नीरस हो गई हैं। भावशून्य क्रिया कभी भी वांछित फल नहीं दे सकती। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

तस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या।

हम तो यह कहते हैं कि जो कुछ करो समझ कर करो, विवेकपूर्वक करो।

प्रश्न — आजकल भावपूजा और द्रव्यपूजा में सामंजस्य नहीं है, इस पर आपकी राय क्या है ? अन्तरंग दृष्टि से भिन्न होने की सम्भावना है न ?

उत्तर — संभावना क्या ? भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है न। पर हमें उस भिन्नता में न उलझकर, जिसमें मतभेद की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है — ऐसे तत्त्वज्ञान पर विशेष जोर देना चाहिए, उसके ही प्रचार-प्रसार में अपनी शक्ति लगाना चाहिए। जब लोगों में तत्त्वज्ञान की पकड़ होगी तो जहां जो सुधार

अपेक्षित होगा स्वत: हो जाएगा। जहाँ तक आज के सन्दर्भ में द्रव्यपूजा और भावपूजा के सामंजस्य की कमी दिखाई देती है वह तो स्पष्ट है, उसके सम्बन्ध में क्या कहना।

प्रश्न — श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित तिरूक्कुरल में कहा है कि जो कुछ भी सीखो, संशय रहित सीखो, फिर उसी के अनुसार बर्तो। यहाँ कुछ लोगों का प्रबल प्रचार है कि आप लोग केवल सीखी हुई चीज को वमन करने वाले हैं, तदनुसार चलने वाले नहीं हैं। इस सम्बन्ध में आपका विचार क्या है?

उत्तर — यह तो आप हमारे जीवन को नजदीक से देखकर ही निर्णय कर सकते हैं। हम अपने जीवन के सम्बन्ध में आपसे क्या कहें? जिनवाणी में वर्णित अव्रती श्रावक (अविरत सम्यग्दृष्टि) के आचरण की दृष्टि से हमारे जीवन में क्या कमी है ? — यह बताइये तथा उन कहने वालों के जीवन से भी हमारे जीवन को मिलाकर देखिए तभी आपको वस्तुस्थिति का सम्यग्ज्ञान हो सकेगा। यदि कोई यह समझता हो कि वीतरागता में धर्म बताने वाले और सर्वज्ञता का स्वरूप स्पष्ट करने वाला वीतरागी और सर्वज्ञ ही होना चाहिए, और जो अभी सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त नहीं कर पाये हैं, उन्हें राग में धर्म बताना चाहिए तो उनकी बुद्धि पर तरस आने के सिवाय और क्या हो सकता है?

प्रश्न — पंचेन्द्रिय के भोग में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर है; पर बाह्यदृष्टि से दोनों में अन्तर मालूम नहीं कर सकते। यह ठीक है ?

उत्तर — सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के भोगों में सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर ज्ञानी को अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है; पर स्थूलदृष्टि वाले अज्ञानी को अन्तर दिखाई नहीं देता।

प्रश्न — क्या आप ऐसा मानते है कि वर्तमान में कोई निर्ग्रन्थ मुनिधर्म को स्वीकार नहीं कर सकते ?

उत्तर — नहीं, जब शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि पंचमकाल के अन्त तक मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविका होंगे तो यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान में कोई निर्ग्रन्थ मुनिधर्म को स्वीकार नहीं कर सकता।

प्रश्न — सभी जीव नित्यनिगोद से आये हुए हैं, ऐसा कहना क्या ठीक है? ठीक हो तो सभी जीव एकेन्द्रिय से ही पंचेन्द्रिय में पहुँचे हैं, ऐसे कहने वाले डार्बिन सिद्धान्त सच हो जाए न? सच माना जाय तो एक समय में एकेन्द्रिय के सिवाय अन्य जीवों के न होने का काल भी होना चाहिए — इसका खुलासा विवरण सहित चाहता हूँ ?

उत्तर — डार्बिन शारीरिक विकास की बात करता है, पर जैनधर्म आत्मिक विकास की; यह दोनों में महान अन्तर है।

प्रश्न — तमिलनाडु में प्रचार हेतु आपको हम आमंत्रित करते हैं। यह आकांक्षा कब पूर्ण होगी? इस प्रान्त के जैनों के लिए आपका क्या शुभ संदेश है?

उत्तर — जब समय आएगा और तमिलनाडु के लिए ही क्या हमारा तो समस्त विश्व को एक ही संदेश है कि अपने को जानो, पहिचानो, अपने में ही जम जाओ, रम जाओ; क्योंकि सच्चा सुख और शांति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है। ●

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है; वह कम से कम उतना देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नहीं है। जो वस्तु हमारे पास नहीं है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नहीं करूँगा, सहज में प्राप्त हो जाने पर भी नहीं लूँगा — इसप्रकार त्याग किया जाता है। वस्तुतः यह उस वस्तु का त्याग नहीं, उसके प्रति होने वाले या सम्भावित राग का त्याग है।

लखपति अधिक से अधिक लाख का ही दान दे सकता है, पर त्याग तो तीन लोक की सम्पत्ति का भी हो सकता है। परिग्रह-परिणामव्रत में निश्चित सीमा तक परिग्रह रखकर और समस्त परिग्रह का त्याग किया जाता है। वह सीमा — जितना अपने पास है, उससे भी बड़ी हो सकती है। **धर्म के दशलक्षण**, पृष्ठ-१३२

द्वितीय खण्ड

सामाजिक

१

महासमिति

(जैनपथप्रदर्शक, २ अप्रैल, १९७७ के अंक से)

भगवान महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण-महोत्सव वर्ष को समाप्त हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए, उसकी याद अभी ताजी है। उसकी अनेकानेक उपलब्धियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी — जैनएकता।

कुछ भी हो, जैनियों के सभी सम्प्रदाय इस अवसर पर एक-दूसरे के कुछ न कुछ नजदीक अवश्य आये। उनका एक साथ उठना-बैठना तो हुआ ही, साथ ही परस्पर विचार-विनिमय भी हुआ। हम सब एक झंडे के नीचे खड़े हुए, एक प्रतीक अपनाया। और भी अनेक एकता के काम हुए।

दिगम्बर जैन समाज के स्तर पर भी निर्वाण-महोत्सव समितियों के माध्यम से एक देशव्यापी विशाल संगठन खड़ा हो गया। उसके माध्यम से जो अनेक कार्य सारे भारतवर्ष में हुए, वे तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं ही, साथ ही संगठन का हो जाना भी एक महान् उपलब्धि है। क्योंकि '**कलौ संघे शक्तिः**' कलयुग में संगठन में ही शक्ति होती है।

समय-समय पर दिगम्बर जैन समाज में अनेक संगठन बने-बिगड़े, पर ऐसा कोई संगठन आजतक नहीं बन पाया कि जिसकी पहुँच भारत की राजधानी दिल्ली से लेकर छोटे-से-छोटे गाँव तक हो। 'दिगम्बर भगवान्

महावीर पच्चीससौवाँ निर्वाण-महोत्सव समिति' ही एक ऐसा ऐतिहासिक संगठन बना है, जिसकी पहुँच गाँव-गाँव तक है।

यह ऐसे ही नहीं बन गया। इसके पीछे कितना श्रम, कितनी शक्ति, कितना समय और कितना व्यय हुआ है ? — इसका अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि यह सब-कुछ सारे देश के द्वारा सम्पन्न हुआ है। यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समाज के सर्वमान्य नेता साहू शांतिप्रसादजी जैन का इसमें सर्वाधिक योगदान है, तथापि यह सब एक आदमी का काम नहीं है। इसमें देशवासी समस्त दिगम्बर समाज का भावनात्मक एवं सक्रिय सहयोग रहा है।

समय रहते समाज ने यह अनुभव किया कि यदि यह संगठन एक बार विघटित हो गया तो ऐसा संगठन फिर दुबारा बनाना सम्भव नहीं है। यह तो एक अवसर था भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष का कि जिसमें इतनी सहजता से यह संगठन बन गया। यह तो सिर्फ निर्वाण वर्ष के लिए था, अत: समय पर विघटित होगा ही। अत: यदि समय रहते इस संगठन को एक स्थाई अखिल भारतीय संगठन का रूप दे दिया जाय तो दिगम्बर समाज के लिए भगवान महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण वर्ष की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

फलस्वरूप सम्पूर्ण भारतवर्ष की प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधियों की एक बैठक दिल्ली में रखी गई, जिसमें सारे भारतवर्ष के दो सौ से अधिक प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सर्वसम्मति से इस विशाल संगठन को 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासमिति' के नाम से स्थाई रूप देने का निर्णय लिया गया। प्रसन्नता की बात है कि सभी ने इसका हार्दिक स्वागत व समर्थन किया।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा के प्रधानमंत्री खुशालचन्दजी गोरावाला ने समाज के हित में 'संघ को बिना शर्त इसमें विलीन करने के लिए तैयार हैं' यह घोषणा की तथा इसीप्रकार का भाव परिषद् के अध्यक्ष बाबू महावीरप्रसादजी ने भी व्यक्त किया। महासभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीचन्दजी छाबड़ा ने भी इसका स्वागत किया। उन्होंने अपना व्यक्तिगत हार्दिक समर्थन किया तथा महासभा की कार्यकारिणी में विचार कर शीघ्र निर्णय लेने का आश्वासन दिया।

यह समाचार सुनकर सारे देश की दिगम्बर जैन समाज में हर्ष की लहर छा गई। किन्तु कुछ कलहप्रिय महत्त्वाकांक्षी लोगों ने इसके विरुद्ध विषवमन आरम्भ कर दिया एवं वातावरण को विक्षुब्ध करने का प्रयत्न किया — तो दु:खी होकर साहू शांतिप्रसादजी ने इसे स्थगित करने की घोषणा कर दी।

श्री साहूजी की घोषणा से समाज हतप्रभ रह गया। चारों ओर से उन पर दबाव डाला जाने लगा कि चन्द लोगों के कारण आप यह क्या कर रहे हैं ? तब फिर साहूजी ने महासभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीचन्दजी छाबड़ा सहित समाज के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की सलाह एवं अनुरोध पर महासमिति बनाने की घोषणा की।

महासमिति के विधिवत गठन के लिए समिति बना दी गई है। उसके विधान बनाने को उपसमिति भी गठित कर दी गई है। विधान तैयार हो रहा है। अभी निर्वाणसमितियों को ही महासमिति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। प्रदेशीय समितियों का गठन आरम्भ हो गया है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रदेशों में गठित भी करली गई हैं। फिर एक बार समाज में हर्ष की लहर छा गई।

किन्तु वे ही निहित स्वार्थ फिर हो-हल्ला मचा रहे हैं। महासमिति के विरुद्ध यत्र-तत्र विषवमन कर रहे हैं, प्रस्ताव पास कर रहे हैं। शान्ति की अपील निकालने वाले समाज के गणमान्य नेताओं के विरुद्ध भर्त्सना-प्रस्ताव पास कर रहे हैं। उन्हें याद रखना चाहिये कि समाज ऐसे विघटनकारी तत्त्वों को कभी प्रोत्साहन नहीं देगा।

वे चाहे कितना ही बोखलाएँ महासमिति तो बन ही गई है और वह अब तेजी से अपना काम भी आरम्भ कर रही है। उनकी बौखलाहट से महासमिति के कार्यकलापों पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। पर जैन एकता का इतिहास उन्हें कभी माफ नहीं करेगा।

हमारा उनसे आग्रहपूर्ण अनुरोध है कि वे समय रहते चेतें, समय की गति को पहिचानें। यह युग संगठन का युग है। इसमें विघटनकारी तत्त्वों को कोई स्थान नहीं है। ●

२

निर्माण या विध्वंस

(जैनपथप्रदर्शक, १ मई, १९७७ के अंक से)

गत एक वर्ष से दिगम्बर जैन समाज जिस वातावरण से गुजरा है, उसमें एक बात स्पष्ट रूप से सामने आई है कि समाज का बहुभाग शांति चाहता है, शांतिपूर्ण उपायों से ही अपनी संस्कृति, सांस्कृतिक विरासत, तीर्थों एवं जीवन्त तीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा और समृद्धि करना चाहता है। सामाजिक विपन्नता और कुरीतियों को भी समाप्त कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सुखी, शिक्षित, सदाचारी और सुनागरिक बनाना चाहता है।

इन सब के लिए अपने-अपने स्तर का चिंतन भी पर्याप्त हुआ तथा रचनात्मक कार्यों की दिशा में कदम भी उठे हैं।

तीर्थों की सुरक्षा के लिए भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी इन दिनों काफी सक्रिय हुई है, उसने गत एक-दो वर्षों में अपनी निधि को चालीस लाख के ऊपर पहुँचा दिया है। श्री कुंदकुंद कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ने भी लगभग इतना ही रुपया जमा किया है। इसप्रकार दिगम्बर जैन समाज की बहुत दिनों से चली आ रही तीर्थ रक्षा के लिए एक करोड़ रुपया इकट्ठा करने की अर्थ व्यवस्था पूर्ण होने जा रही है। यदि इसीप्रकार दोनों ट्रस्टों की प्रगति चलती रही तो लगता है दीपावली के पूर्व यह चिर अभिलषित आकांक्षा पूर्ण हो जायेगी।

शास्त्रों का प्रकाशन भी विगत वर्षों में तेजी से हुआ है। प्राचीन अनुपलब्ध शास्त्रों की शोध-खोज, अनुसंधान, अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन, नवीन साहित्य निर्माण आदि कार्य विपुल मात्रा में हुए हैं। तदर्थ अगली योजनायें भी बन रही हैं।

जैनागम के विद्यमान विद्वानों का सम्मान भी कम नहीं हुआ। विद्वानों की आगामी पीढ़ी तैयार करने का भी उपक्रम चल रहा है। महावीर ट्रस्ट, इन्दौर ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं। इस दिशा में अध्ययन करनेवालों को उन्होंने २००/- रुपया प्रतिमास की छात्रवृत्ति देने का निर्णय लिया है।

जयपुर में पण्डित टोडरमल स्मारक भवन में भी इसप्रकार की व्यवस्था होने जा रही है; जिसमें भावी-पीढ़ी के लिए सुयोग्य विद्वान तैयार हो सकें।

महावीर ट्रस्ट, इन्दौर और भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य इस दिशा में कर रहा है; जो अनुकरणीय है। साहित्य के क्षेत्र में भारतीय ज्ञानपीठ का काम अद्वितीय रहा है। उसने जैनेन्द्र सिद्धांत कोश जैसे ग्रन्थ दिये हैं। प्राकृत संस्कृत के प्राचीन शास्त्रों को भारी संख्या में नाममात्र के मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने का जो काम सोनगढ़ कर रहा है, वह भी अनुकरणीय है।

सामाजिक क्षेत्र में दिगम्बर जैन परिषद् की सक्रियता फिर बढ़ रही है। सर्वाधिक सक्रियता भगवान महावीर की २५ सौवीं निर्वाण महोत्सव समितियों की रही है; जो अब दिगम्बर जैन महासमिति के रूप में परिवर्तित हो गई हैं।

जहाँ एक ओर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में शांतिपूर्ण अहिंसक क्रांति हो रही है; वहीं दूसरी ओर कुछ निहित स्वार्थ अपनी नेतागिरी और पण्डिताई खतरे में पड़ती देख एकदम बौखला गये हैं। वे एकदम उच्छृंखल हो उठे हैं, न उनकी वाणी एवं लेखन में संयम रहा है और न आचरण में। अहिंसक व्यक्ति निर्माण की ओर न बढ़कर विध्वंस की ओर मुड़ गये हैं। मन्दिरों में से शास्त्रों को हटाना, जलाना, पानी में डुबाना आदि विध्वंसक प्रवृत्तियों में उलझ गये हैं।

सोचा था सामाजिक नेताओं, मुनिराजों, विद्वानों की अपीलों से उन्हें कुछ सद्बुद्धि प्राप्त होगी; पर वे अपील निकालनेवालों को भी कोसने लगे हैं। घोषणा कर रहे हैं, प्रतिज्ञायें दुहरा रहे हैं कि जहाँ भी हमारा वश चलेगा जिनवाणी को जलायेंगे, पानी में बहायेंगे। अब तो वे यहाँ तक बढ़ चुके हैं कि दिगम्बर जैन समाज से समाज के एक बहुत बड़े भाग को बहिष्कृत करने की घोषणायें कर रहे हैं।

उन्हें यह पता नहीं है कि युग कितना बदल गया है। बहिष्कार वाली बातें आज नहीं चल पावेंगी। कहीं दूसरों का बहिष्कार करने चलें और स्वयं ही

बहिष्कृत न हो जावें। उन्हें इस पर भी विचार कर लेना चाहिए। वे लोग पहिले अपना आचरण तो देखें, अपने बच्चों का आचरण तो देखें। पहिले उनका ही बहिष्कार कर लें तब दूसरों का बहिष्कार करने की सोचें।

मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि उन्होंने आज तक किसी का संस्कार भी किया है, किसी एकाध को दिगम्बर जैन भी बनाया या दिगम्बर जैनों को गैर दिगम्बर जैन बनाने का काम ही अपने माथे रखा.है। जरा इस बात पर भी गौर कर लें कि कहीं वे धर्म की रक्षा के नाम पर उसका विनाश करने पर तो नहीं तुले हैं।

उन्होंने कभी ये भी सोचा है कि उन्हें ये अधिकार दिया किसने है ? ये स्वयंभू नेता दिगम्बरों के भाग्यविधाता कैसे बन गये हैं ? इनका जीवन इसी में निकला है। ये वही लोग हैं जो कभी वर्णीजी का कमण्डलु छीनने की बात करते थे। ब्र. शीतलप्रसादजी का बहिष्कार करने पर तुले थे। पर क्या कर पाये वर्णीजी का ? क्या कर पाये ब्र. शीतलप्रसादजी का ? समाज में नये-नये झगड़े खड़े करने के अतिरिक्त और उन्होंने किया ही क्या है ?

जब वे उस समय ही कुछ नहीं कर पाये तब आज तो समाज काफी जागृत हो गया है। आज के जागृत समाज को दो में से एक को चुनना है निर्माण या विध्वंस। हमें पूरा-पूरा विश्वास है कि आज का जागृत समाज निर्माण को चुनेगा, विध्वंस को नहीं।

यदि आपको कोई तकलीफ है तो उनसे सस्ता साहित्य प्रकाशित कीजिए, उसे कम से कम मूल्य में घर-घर पहुँचाइये, जलाने और डुबाने का नकारात्मक मार्ग छोड़िये। अपने भाषणों में अखबारों में गाली-गलोच एवं विघटनकारी बातों को छोड़कर तत्त्व की बातें समझाइये, संगठन को बल दीजिए। दूसरे की खींची लकीर छोटी करने के लिए उसे मिटाइये नहीं, बल्कि उसके बगल में बड़ी लकीरें खींचिये।

समाज की शांति के खातिर, जिनधर्म की प्रभावना के खातिर इनसे सानुरोध आग्रह है कि एकबार अपने कृत्यों पर विचार करें, समाज के सर्वमान्य नेताओं की मार्मिक अपील पर हृदय से अमल करें। अनावश्यक गर्म जोशी में ऐसा कोई प्रयास न करें कि जो समाज को विघटन की ओर ले जावे। विध्वंस से विरत हो अपनी शक्ति और श्रम को निर्माण में लगावें। •

३

यदि जोड़ नहीं सकते तो .....

(जैनपथप्रदर्शक, १६ मई, १९७७ के अंक से)

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष में जो सामाजिक एकता का वातावरण वना था, वह निर्वाण महोत्सव समितियों के समापन समारोह तक भी कायम नहीं रह सका। गुजरात समिति का समापन समारोह तो अभी २२-५-७७ को प्राँतिज में होने जा रहा है। किन्तु राजस्थान समिति का समापन समारोह जब ६-७ माह पूर्व जयपुर में सम्पन्न हुआ था; तब तो सामजिक वातावरण उत्तेजना के चरम बिन्दु पर था।

गोहाटी-नैनवां की घटनाएं एकदम ताजी थीं। जिनवाणी के अपमान और जलप्रवाह की घटनाओं ने समाज को आन्दोलित कर दिया था। उस अवसर पर आदरणीय साहूजी ने जो उद्‌गार व्यक्त किये थे; वे उद्‌गार मात्र उनके नहीं, वरन् सम्पूर्ण समाज के थे। उसके बाद उसीप्रकार के उद्‌गार उन्होंने हस्तिनापुर के मेले में एक लाख जनता के बीच भी व्यक्त किये थे।

एक मार्मिक अपील भी समाज के नाम अनेक गणमान्य व्यक्तियों के हस्ताक्षरों सहित निकाली गई थी। सुना है उसका ड्राफ्टिंग स्वयं साहूजी ने किया था। उसका असर समाज पर बहुत अच्छा हुआ। समाज में सर्वत्र शान्ति का वातावरण छा गया। सर्वत्र जिनवाणी के अपमान करने की निन्दा हुई, सभी द्वारा इस दुष्कृत्य की भर्त्सना की गई।

यद्यपि सम्पूर्ण समाज उक्त घटनाओं से दु:खी था और साहूजी एवं समाज के अन्य प्रमुख व्यक्तियों, मुनिराजों, विद्वानों की अपील पर शान्ति बनाये रखी गई थी; तथापि कुछ कलहप्रिय लोग कुछ-न-कुछ करते ही रहे। अपील निकालने वालों की निन्दा करते रहे, उन पर तरह-तरह के इल्जाम लगाते रहे।

फिर भी जब समाज पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो उन्होंने एक सम्मेलन बुलाकर पहिले तो साहूजी सहित सभी गणमान्य व्यक्तियों की खूब भर्त्सना की, महासमिति का भरपूर विरोध किया, सोनगढ़ को मन-माना भला-बुरा कहा और अन्त में शांति का ढोंग करते हुए तीन माह का नोटिस दे डाला।

उनके अनुसार अब नोटिस अवधि समाप्त हो गई और अब वे उन्हें व उनके लाखों अनुयायियों को गैर दिगम्बर घोषित करने की योजनायें बना रहे हैं। वे कितने सफल होंगे, यह तो भविष्य ही बतायेगा। पर शान्तिप्रिय एकताकांक्षी समाज के लिए यह सब बातें चिन्ता का विषय अवश्य बन रही हैं।

कानजी स्वामी और उनके लाखों अनुयायी शुद्धाम्नाय के अनुसार पूजा-पाठ आदि करते हैं, क्षेत्रपाल पद्मावती आदि देवी-देवताओं को नहीं मानते हैं। उनके द्वारा निर्मित सभी मंदिरों में शुद्धाम्नाय के अनुसार ही प्रवृत्ति होती है — यह सब दिगम्बर समाज के तेरापंथ आम्नाय के अनुकूल है; वर्णीजी भी तेरापंथ आम्नाय के पोषक थे।

यही कारण है कि विशेषकर बीसपंथियों द्वारा उनका विरोध किया जाता है। वर्णीजी का विरोध भी इसी कारण था। वर्णीजी तेरापंथ आम्नाय के गढ़ बुन्देलखण्ड के ही होने से इनकी दाल वहाँ नहीं गली। यद्यपि स्वामीजी का भी बुन्देलखण्ड में निर्बाध प्रवेश है; तथापि स्वामीजी सुदूरवर्ती सौराष्ट्रवासी होने से उनकी पकड़ बुन्देलखण्ड पर उतनी नहीं है; जितनी वर्णीजी की थी। इसका लाभ उठाकर कुछ बीसपंथी विद्वानों और मुनिराजों का प्रयत्न बुन्देलखण्ड में बीसपंथ के प्रचार का हो रहा है, कुछ तेरापंथी विद्वान भी व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण उनके साथ हो गये हैं।

गत वर्षों से घटित कुछ घटनाओं ने इसको एकदम उजागर कर दिया है। समस्त तेरापंथी समाज के समान स्वामीजी भी शिथिलाचार को स्वीकार नहीं करते। एक कारण यह भी बन रहा उनके विरोध का।

स्वामीजी के कारण तेरापंथ को अभूतपूर्व बल मिला है, इस कारण भी बीसपंथी उनका विरोध कर रहे हैं।

इन सब स्थितियों के कारण एकबार फिर तेरापंथ बीसपंथ का झगड़ा सिर उठा रहा है, जो समाज के हित में बिलकुल ठीक नहीं है। सारी समाज का हित इसी में है कि जहाँ जो पूजन-पद्धति चल रही है, उसी को चलने दें। अन्यथा समाज के विघटन का भय है।

सभी लोगों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि स्वामीजी एवं उनके अनुयायियों के विरुद्ध कुछ भी करने के पूर्व एकबार गंभीरता से विचार करें कि यदि हम दिगम्बर धर्म में किसी को जोड़ नहीं सकते तो कम से कम तोड़ने का यत्न तो न करें।

यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि कुन्दकुन्दाचार्य जिस दिगम्बर परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। प्रत्येक दिगम्बर जैन शास्त्र पढ़ने के पूर्व जिन कुन्दकुन्दाचार्य को भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ प्रतिदिन स्मरण करते हैं। उसी दिगम्बर परम्परा के कुछ तथाकथित संरक्षक कुन्दकुन्दाचार्य के परमभक्त, कुन्दकुन्द की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने वाले, कुन्दकुन्द वाणी से प्रभावित होकर कुल, जाति, प्रतिष्ठा, समुदाय आदि सब-कुछ बलिदान करने वाले कुन्दकुन्द के सबसे बड़े अनुयायी को अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु गैर दिगम्बर घोषित करने की बचकाना हरकतें कर रहे हैं।

महात्मा गांधी के दुर्भाग्यपूर्ण अन्त पर डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा था कि — "एक सबसे बड़ा हिन्दू हिन्दुत्व की रक्षा के नाम पर एक हिन्दू द्वारा ही मारा गया।" कानजी स्वामी को गैर दिगम्बर घोषित करने की सोच वालों को एकबार गम्भीरता से सोचना चाहिए कि एकबार फिर किसी राधाकृष्णन् को यह न लिखना पड़े कि कुन्दकुन्दाचार्य के सबसे बड़े भक्त को कुन्दकुन्दाचार्य के तथाकथित भक्तों द्वारा कुन्दकुन्द की रक्षा के नाम पर गैर दिगम्बर घोषित किया गया।

यद्यपि इस घोषणा से स्वामीजी पर कोई असर पड़ने वाला नहीं है। समस्त दिगम्बर समाज पर भी इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ने वाला नहीं है; तथापि यदि यह दुर्घटना घटित हुई तो दिगम्बर जैन समाज का माथा नीचा अवश्य

होगा, उसके नाम पर एक कलंक अवश्य लगेगा। सारा जगत और इतिहास इस बात का उल्लेख एक कलंक के रूप में स्मरण किए बिना नहीं रहेगा।

जिनवाणी के जलप्रवाह और अपमान की घटनाओं के कारण भी दिगम्बर जैन समाज एवं इसके करनेवाले, उकसाने वाले तथाकथित धर्मात्माओं को नीचा ही देखना पड़ा है। इस तूफान में भी उद्वेलित न होनेवाले स्वामीजी का प्रभाव बढ़ा ही है, घटा नहीं। मेरा पूरा-पूरा विश्वास है, यदि ऐसा कुछ हुआ तो यह सब दिगम्बर जैन समाज को स्वामीजी के प्रति और अधिक आकर्षित करेगा, उनसे विरत नहीं।

जिनवाणी को जलप्रवाह करनेवालों ने कुछ खोया ही है, पाया नहीं। उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा को घटाया ही है, बढ़ाया नहीं। थूबोनजी आदि स्थानों पर हुई घटनाओं से यह स्पष्ट साबित हो गया है।

समझदार को इशारा काफी होता है। •

आरम्भ में जब सत्य बात का विरोध होता है तो कुछ समय को ऐसा लगने लगता है कि यह बात अधिक चलेगी नहीं, दब जावेगी। तीव्रतम विरोध के कारण जब सत्य के प्रचार की गतिविधियाँ कुछ दब-सी जाती हैं या कुछ दिनों को बन्द हो जाती हैं तो यह भी लगने लगता है कि यह बात समाप्त हो गई है, अब इसके उभरने का कोई अवसर नहीं।

पर यह सब स्थिति क्षणिक होती है। वस्तुत: होता तो यह है कि दबाने से सत्य अपनी शक्ति और सन्तुलित तैयारी के साथ तेजी से उभरता है; इसलिए तो कहा जाता है कि विरोध प्रचार की कुंजी है।

वस्तुत: विरोध से होता यह है कि वह बात विरोधियों के माध्यम से उन लोगों तक भी पहुँच जाती है, जिसके पास प्रचारकों के माध्यम से पहुँचना सम्भव नहीं होता; क्योंकि जहाँ प्रचारकों के प्रवेश व पहुँच नहीं होती, वहाँ विरोधियों की होती है। — **सत्य की खोज**,पृष्ठ १३८

और अब पूज्य समन्तभद्र महाराज भी ..... !

(जैनपथप्रदर्शक, १ सितम्बर, १९७७ के अंक से)

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव से समाज में एक जागृति एवं एकता की लहर उत्पन्न हो गई थी, वह वर्तमान में भी चल रही है। यद्यपि निर्वाण महोत्सव समिति के समापन के साथ-साथ वह लहर कुछ धीमी अवश्य पड़ी है, पर लुप्त नहीं हुई।

दिगम्बर जैन महासमिति के गठन और सक्रियता से वह फिर से नवजीवन प्राप्त कर रही है। गाँव-गाँव में महासमिति की शाखायें गठित हो रही हैं। जिस गति से इसका विस्तार चल रहा है और सम्पूर्ण समाज का इसको जैसा सहयोग प्राप्त हो रहा है, उसको देखते हुए लगता है कि थोड़े ही दिनों में दिगम्बर जैन महासमिति दिगम्बर जैन समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होगी।

यद्यपि दिगम्बर जैन महासमिति का समाज में सर्वत्र स्वागत हुआ है और समाज का पूरा-पूरा सहयोग उसे प्राप्त हो रहा है; तथापि कुछ अहंमन्य कलहप्रिय लोग इसको कोसने में लगे हुए हैं।

ये वही लोग हैं, जिन्होंने हमेशा ही अच्छे कामों का विरोध किया है। इनका जीवन ही विरोध में गया है। इनका कहना है कि जब समाज में पहिले से ही अनेक सभा और समितियाँ हैं तो इसकी क्या आवश्यकता है। इसी बात को लेकर ये लोग श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट का भी विरोध कर रहे हैं। कहते हैं कि जब एक तीर्थक्षेत्र कमेटी है तो इसकी क्या आवश्यकता थी? मैं इन लोगों से पूछना चाहता हूँ कि जब विद्वानों की एक प्रतिनिधि संस्था विद्वत् परिषद् थी तो फिर शास्त्री परिषद् की क्या आवश्यकता

थी? जब दिगम्बर जैन महासभा थी तो फिर सिद्धान्त संरक्षणी की क्या आवश्यकता थी? जब एक बम्बई का परीक्षा बोर्ड था तो फिर महासभा परीक्षा बोर्ड की क्या आवश्यकता थी? जब जैनगजट था तो फिर जैनदर्शन की क्या आवश्यकता थी?

क्या विद्वानों की एक संस्था पर्याप्त न थी? क्या महासभा सिद्धान्त का संरक्षण नहीं कर सकती थी? क्या बम्बई परीक्षा बोर्ड परीक्षाएँ नहीं ले सकता था, जो महासभा परीक्षा बोर्ड की आवश्यकता हुई? आज महासभा अपने परीक्षा बोर्ड को चला भी नहीं सकती, जो महावीर ट्रस्ट से इसके लिए सहायता माँगती है। किन्तु जब परिषद् परीक्षा बोर्ड बना तो भी हो हल्ला हुआ। वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड बना तो भी विरोध किया गया। जबकि आज परिषद् और वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड के पास लगभग बीस-बीस हजार छात्र हैं और अपने को सर्वाधिक प्राचीन कहने वाले परीक्षा बोर्ड मृतप्रायः हो रहे हैं। हो हल्ला करने वाली नई-नई युवा परिषदें बन रही हैं — इनका विरोध नहीं, शांति से ठोस काम करने वाली संस्थाओं का विरोध किया जा रहा है।

विरोध यदि विवेक की सीमा में रहता तब भी ठीक था, जिस व्यक्ति ने सत्य और शान्ति पक्ष का निष्पक्ष भाव से समर्थन किया, सहयोग किया; इन स्वयंभू नेताओं ने उन्हें भी कोसना आरम्भ कर दिया। उन पर सरासर झूठे गलत इल्जाम लगाना आरम्भ कर दिये, अभी तक तो ये लोग निरीह विद्वानों पर ही 'पैसा बोल रहा' जैसे आरोप लगाते थे, पर अब इनके होंसले काफी बढ़ गये हैं। सर सेठ साहब भागचंदजी सोनी ने शान्ति की अपील पर हस्ताक्षर कर दिये तो लोग उन पर भी आरोप लगाने लगे कि वे भी पैसों में बिक गये हैं। समाज के सर्वमान्य नेता साहूजी पर भी इन लोगों ने भरपूर कीचड़ उछाली। उनका भी एकमात्र अपराध जिनवाणी के अपमान के विरुद्ध अपील पर हस्ताक्षर करना मात्र था।

जब दक्षिण भारत के सर्वमान्य नेता प्रसिद्ध उद्योगपति एवं तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष सेठ लालचन्द हीराचन्दजी ने दोनों सुरक्षा कमेटियों के सहयोग की बात कही तो उन्हें भी इन लोगों ने सोनगढ़ी घोषित कर दिया।

बात यहाँ तक रहती तो ठीक थी, पर महान विद्वान एवं वयोवृद्ध पूज्य मुनिराज श्री समन्तभद्र महाराज ने भी जब सुरक्षा ट्रस्ट से सहयोग की बात कही और कहा कि मेरी प्रेरणा से ही यह ट्रस्ट बना है तो ये लोग उन पर भी गर्हित आरोप लगाने से नहीं चूके।

बात सिर से ऊपर जा रही है। समाज को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। अपने को सार्वभौम सत्ता के धनी समझनेवाले ये लोग अभी तो नये दिगम्बरों को ही गैर दिगम्बर घोषित करने की कल्पनायें करते थे, फिर उनके अनुयायी जन्मजात दिगम्बरों को भी बहिष्कृत करने की सोचने लगे थे; किन्तु अब तो नग्न दिगम्बरों को भी नहीं छोड़ रहे हैं।

इनकी बातों का कोई ठिकाना भी तो नहीं है। एक ओर लिखते हैं कि ये सोनगढ़िया शादी-विवाह भी अपने पक्षवालों से ही करते हैं और इस तरह समाज में फूट डाल रहे हैं। दूसरी ओर स्वयं समाज से अपील करते हैं कि इनसे बेटी-व्यवहार न करो। एक ओर कहते हैं कि इन्हें हमने उखाड़ दिया, अब इन्हें कोई पानी देनेवाला भी नहीं है; पर दूसरी ओर चिल्लाते हैं कि ये छाते जा रहे हैं; पता नहीं क्या सही है?

एक ओर लिखते हैं ललितपुर या अन्य जगह अब इन्हें कोई पूछने वाला नहीं; दूसरी ओर लिखते हैं कि लाखों रुपया वहाँ की समाज से ले गये। यदि कोई पूछने वाला नहीं तो लाखों कहाँ से ले गये, कैसे ले गये? यदि लाखों समाज ने दिये तो स्पष्ट है कि समाज उनके साथ है।

एक ओर लिखते हैं कि इनके विद्वान आते हैं तो कुछ लेते नहीं, बल्कि कुछ दे जाते हैं; दूसरी ओर लिखते हैं बिक गये हैं। समझ में नहीं आता क्या सही है? पागल जैसी बातें करते हैं। पर अब समाज इनकी सब बातें समझने लगी है। अतः इन्हें खड़े होने को कहीं स्थान नहीं हैं। एक वर्ष से भोपाल, विदिशा, खुरई आदि स्थानों पर कार्यक्रमों की घोषणा करते आ रहे हैं; पर कहीं कार्यक्रम कर नहीं पाये। करें कैसे? इन्हें व्यक्तिगत हजारों रुपया चाहिए। समाज को एकबार धोखा दिया जा सकता है, बार-बार नहीं। काठ की हाँडी

एकबार चढ़ती है, बार-बार नहीं। अत: अब चिढ़कर तेरहपंथ-बीसपंथ का झगड़ा खड़ा करने की सोच रहे हैं। लिखते हैं कुन्दकुन्द कहान ट्रस्ट तेरापंथियों का है। भाईसाहब कल तक तो इस ट्रस्ट वालों को दिगम्बर मानने को भी तैयार नहीं थे। अब ये तेरापंथी कैसे हो गये?

कैसे भी हो, इन्हें तो कुछ-न-कुछ चाहिए, पर अब समाज इतना भोला नहीं रहा जो इनके बहकावे में इतनी सरलता से आ सके।

मेरा समाज से अनुरोध है कि इनके बहकावे में न आवें। इन लोगों से भी आग्रह है कि अब ये भी विघटनकारी प्रवृत्तियों से विराम ले लें। इनका भला भी इसी में है। •

आत्मा के अनन्त गुणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण श्रद्धा है। शेष समस्त गुण तो श्रद्धा का अनुसरण करते हैं। एक प्रकार से रुचि श्रद्धा का ही दूसरा नाम है। परपदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा की रुचि ही सम्यक्-श्रद्धा है और निजात्मा से भिन्न परपदार्थों की रुचि ही मिथ्याश्रद्धा।

बल रुचि का अनुसरण करता है; अत: बल वहीं पड़ता है, जहाँ रुचि होती है। अनन्त गुणों का बल उसी दिशा में कार्य करता है, जहाँ रुचि हो। यही कारण है कि आत्मरुचिवान व्यक्ति आत्मोन्मुखी हो जाता है और पररुचिवाला परोन्मुखी।

जिसके प्रति श्रद्धा होती है, उसे व्यक्ति अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार हो जाता है। यदि वह अपने में हुई तो अपने लिए और पर में हुई तो पर के लिए सर्वस्व लुटा देना ही उसकी वृत्ति है।

आत्मश्रद्धान ही सम्यक्श्रद्धान है और सम्यक्श्रद्धान समस्त दु:खों से मुक्ति पाने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सोपान है। यह मुक्ति-महल की प्रथम सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी सच्चे नहीं हो सकते।

सत्य की खोज, पृष्ठ ५४

स्वयं बहिष्कृत

(जैनपथप्रदर्शक, १ फरवरी, १९७८ के अंक से)

आचार्यों और मुनिराजों के नाम पर तथाकथित पण्डितों द्वारा प्रचारित आत्मघाती आदेश की वास्तविकता समय के साथ-साथ स्पष्ट होती जा रही है।

कहा जाता है कि जिनके नाम से यह आदेश निकाला गया है, उनसे सम्पर्क करने पर पता चला है कि उन्हें इसके बारे में पूरी तरह पता ही नहीं है ? जब उनसे पूछा गया कि आपने कोई आदेश निकाला है, तब उन्होंने तत्काल कहा कि भैया हम आदेश निकालने वाले कौन होते हैं। साधुओं का तो उपदेश होता है, आदेश नहीं। पर जब उन्हें बताया गया कि आपके नाम से ऐसा-ऐसा आदेश प्रचारित हुआ है, तब वह कहने लगे —

"हाँ, कुछ समय पूर्व कुछ पण्डित आये थे। वे कह रहे थे कि सोनगढ़ वाले मुनिराजों की बहुत निन्दा करते हैं, पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति पानी में डालते हैं, नया पन्थ चला रहे हैं, उनके विरुद्ध आचार्य महाराज ने आदेश निकाला है। हमने कहा ठीक है। जब उन्होंने कहा आप भी सहमत हैं न, तो हमने कहा आचार्य महाराज ने जो किया, उससे असहमत होने का हमारा अधिकार ही क्या है।"

आपने उस आदेश पर हस्ताक्षर किये थे क्या? यह पूछने पर उन्होंने कहा — "काहे के हस्ताक्षर, किस पर" ? जब कहा गया — "आदेश के कागज पर"। "कागज था ही कहाँ, मौखिक बात थी।"

जिनके नाम से आदेश प्रसारित है, उनमें से अधिकांश के इसी के आस-पास उत्तर थे।

उक्त बात पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसा कि पिछले दिनों अखबारों में जो बार-बार आशंका प्रगट की जा रही थी, वह सच है।

समाचार-पत्रों में आदेश के बारे में प्रश्न उठाये गये थे कि क्या आदेश निकालने के पूर्व उन आचार्यों एवं मुनिराजों ने, जिनके नाम से आदेश है, मिलकर कहीं विचार-विमर्श किया था क्या? क्या उन्होंने किसी आदेश को स्वयं लिखा था या किसी बने बनाए ड्राफ्ट पर हस्ताक्षर किये थे। इन सबका एकमात्र उत्तर आता है कि 'नहीं'।

न तो कहीं मिल-बैठकर विचार-विमर्श ही हुआ है और किसी मुनिराज द्वारा स्वयं कोई ड्राफ्ट बनाये जाने की बात तो बहुत दूर, देखा भी नहीं गया। हस्ताक्षर भी नहीं किये गये हैं।

यदि इसमें कोई बात गलत है तो हमारा उन तथाकथित पण्डितों से आग्रह है कि वे उस हस्ताक्षर सहित आदेश का ब्लाक प्रकाशित करें।

जब जिनवाणी के जलप्रवाह के विरुद्ध समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने मार्मिक अपील प्रकाशित की थी, तब उसका मय हस्ताक्षरों सहित ब्लाक प्रकाशित किया गया था। तब भी इन तथाकथित पण्डितों ने उसकी प्रमाणिकता में संदेह प्रकट किये थे। अब देखते हैं कि अपनी बात सही सिद्ध करने के लिए उस आदेश को आचार्यों और मुनिराजों के ब्लाक सहित प्रकाशित करते हैं या नहीं।

इसमें एक सम्भावना यह भी है कि वे अब हस्ताक्षर करालें। पर हमें सत्य महाव्रत धारी मुनिराजों पर इतना भरोसा है कि उनके नाम से प्रचारित आदेश पर वे अब हस्ताक्षर नहीं करेंगे। यदि करना ही है तो अपने सत्यमहाव्रत को ध्यान में रखकर हस्ताक्षर करते समय अपने हाथ से उसपर तारीख भी डालेंगे।

इस संदर्भ में विचारणीय बात यह है कि —

(१) क्या इतने महत्त्वपूर्ण आदेश, जिसपर अनेक आचार्यों और मुनिराजों के नाम दिए हैं, निकालने के पूर्व विवेकी आचार्यों एवं मुनिराजों ने परस्पर विचार-विमर्श की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की।

(२) इतने महत्त्वपूर्ण आदेश की प्रमाणिकता के लिए क्या हस्ताक्षर भी आवश्यक नहीं समझे गये? यह तो शाह आयोग की गवाहियों जैसा काम है कि हर आदमी अपने अपराध के लिए इन्दिरा गांधी का नाम लिए जाता है और प्रमाण मांगने पर कहता है कि उनके सचिव ने मौखिक आदेश दिये थे।

आज भी जाकर आप पूछ सकते हैं उन आचार्यों और मुनिराजों से, जिन्होंने हस्ताक्षर किये हैं। उन्हें ढंग से पता ही नहीं है कि उनके आदेशों में क्या क्या लिखा है? क्या इतने बड़े आदेश निकालकर कोई भूल सकता है, जिन पर समाज का भविष्य निर्भर हो।

अब यदि इन आदेशों की सच्चाई पर भरोसा भी कर लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि क्या आचार्यों का आदेश सामान्य गृहस्थों पर भी चलता है या अकेले उनसे दीक्षित शिष्यगणों पर ही। यदि संघ पर ही चलता है, गृहस्थों पर नहीं; तो वे ऐसा स्पष्ट आदेश कैसे दे सकते हैं कि "तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष को हम आदेश देते हैं कि ....."

क्या यह भाषा वीतरागी दिगम्बर मुनिराजों की हो सकती है?

यदि गृहस्थों पर भी उनका आदेश चलता है तो फिर एकबार अपने संघ में स्थित या एकलविहारी उन दीक्षित शिष्यों को ही अपने अनुशासन में रख लें, जिनके शिथिलाचार से समाज में मुनिधर्म बदनाम हो रहा है। फिर गृहस्थों को आदेश निकालें।

यदि साधुओं ने आदेश नहीं माना तो वे संघ से निष्कासन, दीक्षाभंग आदि दंड दे सकते हैं, यदि गृहस्थों ने नहीं माना तो क्या करेंगे? यह भी बतायें। पुलिस तो उनके पास है नहीं। हो भी तो क्या समताधारी मुनिराज इन चक्करों में पड़ेंगे?

फिर एक प्रश्न यह भी है कि गृहस्थ दीक्षित तो हैं नहीं कि उन पर एक ही आचार्य या मुनिराज का आदेश चले। एक आचार्य आदेश देते हैं कि कुन्दकुन्द कहान ट्रस्ट को सहयोग मत करो, दूसरे कहते हैं सहयोग करो, फिर गृहस्थ क्या करेंगे?

हुआ भी यही, जहाँ एक ओर आचार्यों के नाम पर पंडितों ने आदेश निकाले। तत्काल उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी ने समाज को ऐसा नहीं करने के लिए सावधान कर दिया और कहा बहिष्कार करनेवाले स्वयं बहिष्कृत हो जावेंगे। आचार्य विद्यासागरजी एवं समन्तभद्रजी महाराज के भी इसी प्रकार के भाव प्रसारित हुए। अब क्या करे समाज? किन आचार्यों का आदेश माने? समझदार समाज ने शान्तिकारक आदेशों को स्वीकार किया और एकबार फिर निहित स्वार्थियों का षड्यंत्र विफल हो गया।

पूज्य आचार्यों और मुनिराजों से हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे इन तथाकथित कलहप्रिय पण्डितों के बहकावे में न आवें, अन्यथा वे अपने समान आपकी प्रतिष्ठा को भी धूल धूसरित करे बिना नहीं छोड़ेंगे।

एक अत्यन्त वृद्ध महापण्डित उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी को लिखते हैं, वह भी सीधे नहीं अखबारों के माध्यम से कि मेरा जीवन थोड़ा है, मैं चाहता हूँ कि मरने से पूर्व सोनगढ़ पंथ को बर्बाद होते देख सकूं। विवेकी (लेखक) चाहता है कि वे शतायु हों और अपने आँखों के सामने सोनगढ़वालों द्वारा किए जा रहे वास्तविक तत्त्वप्रचार को फलता-फूलता देखें।

इसीप्रकार की घटना महासभा की मीटिंग में भी हुई सुनी गई। महासमिति की मीटिंग के अवसर पर दिल्ली में जोरों से चर्चा थी कि महासभा के वरिष्ठ एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सदस्यों ने उक्त आदेश के समर्थक प्रस्ताव का डटकर विरोध किया। उनकी उपस्थिति तक वह प्रस्ताव पास भी नहीं हो सका; किन्तु जब वे चले आये तो कुछ लोगों ने उक्त प्रस्ताव पास कर लिया। जब उन्हें पता चला तो उन्होंने लिखा कि आपने यह अच्छा नहीं किया। यदि हमारा नाम इसके साथ जोड़ा तो वे समाज में उसका अपवाद निकाल देंगे। मजबूरन महासभा का पत्र तो इस बात को छिपा नहीं सका, उसने तो लिखा कि यह प्रस्ताव उनके चले जाने के बाद पास हुआ, लिखा इस तरकीब से कि जन साधारण यह न समझ सके कि उनका इससे विरोध था। अन्य पत्रों ने तो यह भी औपचारिता नहीं दिखाई।

समाज ने तथाकथित आदेश को अस्वीकार कर ही दिया है; पर सुना है कि उक्त प्रस्ताव के नाम पर तथाकथित पण्डित दो-चार स्थानों पर जिनवाणी का अपमान, अशान्ति एवं उपद्रव कराने की सोच रहे हैं, करा भी सकते हैं। शान्तिप्रिय स्थानीय समाज उनसे अपने स्तर पर निबट लेगी। फिर भी समस्त समाज को इनसे सावधान रहना चाहिए।

एक प्रश्न समाज में यह भी जोरों से उठ रहा है कि क्यों नहीं इन कलहप्रिय तत्त्वों का समाज द्वारा बहिष्कार कर दिया जाता। पर मेरा शान्तिप्रिय समाज से आग्रह है कि ये अपनी करतूतों से स्वयं ही बहिष्कृत से हो गये हैं। इनका बहिष्कार करना मरे को मारना है। इस पाप से समाज विरत ही रहे, तो अच्छा है। •

चोर और डाकू सिर्फ धन लूटते हैं, उससे भी बड़े अपराधी जन लूटते हैं; तन लूटते हैं। पर श्रद्धा के लुटेरे धन-जन-तन तो लूटते ही हैं, साथ में जीवन भी लूट ले जाते हैं। अत: यह सत्य ही है कि श्रद्धा का लुटेरा सबसे बड़ा लुटेरा है।

चतुर लुटेरा यह अच्छी तरह जानता है कि श्रद्धा को लूटे बिना किसी को पूरा नहीं लूटा जा सकता। श्रद्धा लूटने के लिये बहुत-कुछ करना होता है। अज्ञानी होते हुए भी ज्ञान का, अत्यागी होते हुए भी त्याग का, सब-कुछ रख कर भी कुछ न रखने का, सब-कुछ करते हुए भी कुछ न करने का प्रदर्शन करना पड़ता है; क्योंकि इनके बिना किसी की भी श्रद्धा को लूटना संभव नहीं है। धर्म के नाम पर ढोंग के प्रचलन का मूल केन्द्र-बिन्दु यही है। **सत्य की खोज**, पृष्ठ ५४-५५

जबतक सहज श्रद्धालु नारी जाति शिक्षित नहीं होगी, उसे ढोंगी साधुओं और धूर्त महात्माओं से बचाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। **सत्य की खोज**, पृष्ठ ६२

६

जागृत समाज

(जैनपथप्रदर्शक, १ जून, १९७८ के अंक से)

अपने को पढ़ा-लिखा और होशियार कहने वाला उच्च वर्ग भारतीय जनता को भले ही अशिक्षित नासमझ कहता रहे, पर समझदार भारतीय जनता ने सन् १९७७ में चुपचाप जो जनक्रांति करके दिखा दी, उससे अपनी समयानुकूल समझदारी का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। उसने बता दिया है कि भारतीय जनता जागृत है, उसे बहकाया नहीं जा सकता। आजमगढ़ में जनता सरकार को झटका देकर एकबार फिर उसने बता दिया है कि उसे उसके हित में काम किये बिना बहुत दिनों तक फुसलाया नहीं जा सकता।

उसीप्रकार दिगम्बर जैन समाज के तथाकथित समझदार लोग भले ही समझते रहें कि दिगम्बर जैन समाज भोली है, नासमझ है, उसे अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये चाहे जैसा बहकाया-फुसलाया जा सकता है; किन्तु दिगम्बर जैन समाज ने तीर्थक्षेत्र कमेटी के चुनाव में यह साबित कर दिया है कि वह कलहप्रिय लोगों के हाथ का खिलौना नहीं बन सकती। उसने कलहप्रिय पण्डितों के चंगुल में फंसे महामंत्री को जो करारी हार दी है, उसने यह साबित कर दिया है कि समाज विघटनकारी प्रवृत्तियों को बिल्कुल पसंद नहीं करती है।

प्रसन्नता है कि यह बात पराजित महामंत्री ने भी अनुभव कर ली है। जैसा कि उन्हें बाद में व्यक्तिगत चर्चाओं में कहते भी सुना गया; पर जबतक बात उनकी समझ में आई, तबतक समय हाथ से निकल चुका था।

वस्तुतः वे इस योग्य थे भी नहीं कि इतनी महान संस्था के महामंत्री पद को संभाल सकें। उन्हें यह पद अचानक ही प्राप्त हो गया था; जिसे वे संभाल

नहीं पाये। जिस तेरापंथी समाज से तीर्थक्षेत्र कमेटी को लाखों रुपया प्राप्त हुआ है, जिस बुन्देलखण्ड में तेरापंथी समाज ही बसता है; उसकी यात्रा में जगह-जगह वे कहते फिरे कि कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट में सभी तेरापंथी हैं, वह तेरापंथियों की संस्था है और तीर्थक्षेत्र कमेटी बीसपंथियों की; आदि न जाने कितनी ऊल-जलूल बातें कीं।

एक तो वे स्वयं इस योग्य थे नहीं, दूसरे कलहप्रिय पण्डितों के बहकावे में आकर समाज को विघटित करने वाली प्रवृत्तियों में सलंग्न हो गये। परिणाम जो हुआ, सो सामने है। समाज के समझदार लोगों को यह एक संकेत है कि जो लोग इन तथाकथित विघटनवादी पण्डितों के चक्कर में आवेंगे, वे समाज का कोई भला नहीं करेंगे; बुरा भी नहीं कर पावेंगे; क्योंकि जागृत समाज बुरा कर पाने के पहिले ही उनसे मुक्त हो जावेगी।

तीर्थक्षेत्र कमेटी के चुनाव से दूरगामी परिणाम आने के आसार नजर आने लगे हैं। कलहप्रिय पण्डितों से जुड़े कुछ समझदार लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि इनके साथ रहने से हम समाज से कटते जा रहे हैं तथा हम भी समाज में कलहप्रिय लोगों के रूप में बदनाम हो रहे हैं। वे इस प्रयत्न में हैं कि यह हीन स्तर का गाली-गलौज का रास्ता छोड़ सही रूप में समाज में शान्ति स्थापित की जावे।

ऐसे शान्तिप्रिय लोग दिगम्बर जैन महासमिति के माध्यम से भी समाज की सेवा करना चाहते हैं, पर इन तथाकथित पण्डितों ने सामाजिक हित के पवित्र उद्देश्य वाली महासमिति का भी भरपूर विरोध किया तथा उन लोगों को महासमिति में शामिल नहीं होने दिया, इससे भी वे लोग क्षुब्ध हैं।

लगता है अब इस कलह युग की समाप्ति का समय आ गया है, यह सब किसी महान नेता ने नहीं किया है, वरन् जागृत सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज ने किया, जिसने अनेक उत्तेजना परक लेखों, भाषणों, आदेशों से भी अपनी शान्ति भंग नहीं होने दी। छुट-पुट दो-चार घटनाओं को छोड़कर सर्वत्र शान्ति बनाये रखी और तीर्थक्षेत्र कमेटी के चुनाव के माध्यम से अपनी बात समाज के नेताओं के सामने चुपचाप रख दी। अब देखना है कि समाज से स्वयंभू

पण्डित एवं तथाकथित नेता जागृत समाज की आवाज सुनते हैं या नहीं। सुनेंगे तो ठीक अन्यथा इनका भी वही हाल होनेवाला है जो कि तीर्थक्षेत्र कमेटी के पराजित महामंत्री का हुआ।

विवेकी (लेखक) तो बस यही चाहता है कि जागृत समाज की आवाज ये लोग सुनें और समाज में शान्ति बनी रहने दें। इनके उपदेशों, लेखों, आदेशों, अपीलों को तो जागृत समाज ने अस्वीकृत कर ही दिया; अब देखना है कि ये लोग जागृत समाज के संकेत को समझते हैं या नहीं ? •

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भी भेदभाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं तो शान्तिनाथ शान्ति। इसीप्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) को ठीक करने वाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठरोग निवारण करने वाला कहा जाता है।

भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एक-सी शक्ति अनन्तवीर्य के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है? एक तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते और पार्श्वनाथ शान्तिनाथ के समान शान्ति नहीं कर सकते? ऐसा कोई भेद तो अरहन्त-सिद्ध भगवन्तों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं, वे कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना शेष ही नहीं रहा, वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहिचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं; अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिए। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतरागता का उपासक हो ही नहीं सकता।

विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पाप-बंध ही होता है, पुण्य का बन्ध नहीं होता।

सत्य की खोज, पृष्ठ २२

७

पण्डित परम्परा का भविष्य : एक सुझाव

(जैनपथप्रदर्शक, १६ जुलाई, १९७८ के अंक से)

दिगम्बर जैन समाज की पण्डित परम्परा लुप्त होती जा रही है — यह चिन्ता और यदि समय रहते उपाय नहीं किया गया तो परम्परा लुप्त हो जावेगी — यह आशंका समाज में सर्वत्र व्याप्त है। अभी-अभी इन्दौर में सम्पन्न पण्डित नाथूलालजी के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर इस सम्बन्ध में विशेष मंथन हुआ। उनके सम्मान में प्रकाशित तीर्थंकर मासिक के विशेषांक ने भी इस समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

उक्त अवसर पर संगोष्ठियों में एवं अब पत्र-पत्रिकाओं में भी इस समस्या के समाधान के लिए अनेक समाधान प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यह एक अच्छी बात है कि समाज एक रचनात्मक दिशा में चिन्तन कर रहा है। यदि इसे भी व्यर्थ के विवाद का विषय नहीं बनाया गया और सामाजिक राजनीति का रूप नहीं दिया गया तो आशा ही नहीं विश्वास भी किया जा सकता है कि इसमें से कुछ न कुछ सन्मार्ग अवश्य निकलेगा।

समस्या समाज में विद्वान पैदा करनेवाले महाविद्यालयों की कमी की नहीं, उसमें आने वाले प्रतिभाशाली योग्य छात्रों के प्राप्त नहीं होने की है।

एक तो पर्याप्त छात्र मिलते नहीं और जो भी मिलते हैं, वे प्रतिभाशाली या सुयोग्य नहीं होते। इसका कारण यह है कि जब छात्र आते ही बहुत कम हैं तो उनमें से चुनाव करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अत: जो भी और जैसे भी मिलते हैं, विद्यालय चलाने के लिए उन्हें मना-मना कर भरती कर लिया जाता है, जिससे विद्यालय चलते तो रहते हैं, टूटने की नौबत तो नहीं आती, किन्तु वे अभीष्ट फल देने में असमर्थ रहते हैं।

नि:शुल्क भोजन व आवास प्राप्त होने पर भी प्रतिभाशाली छात्र क्यों नहीं मिलते, इसकी तह में जाते हैं तो पता चलता है कि जैनदर्शन के अध्ययन में उन्हें कोई अच्छा भविष्य नजर नहीं आता। जब वे वर्तमान पण्डितों की दशा देखते हैं तो एकदम निराश हो जाते हैं। जहाँ एक कारण आर्थिक भविष्य की अनिश्चितता है तो दूसरा कारण यह भी है कि उन्हें वहाँ कोई उत्साहवर्द्धक आध्यात्मिक वातावरण प्राप्त नहीं होता, बल्कि दीन-हीन मनहूस वातावरण प्राप्त होता है। अत: जो प्रतिभाशाली छात्र आ भी जाते हैं तो टिकते नहीं, कुछ ही दिनों में छोड़-छाड़कर भाग जाते हैं।

प्रथम कारण के निवारण के लिए तो समाज में थोड़ा बहुत चिन्तन चला भी, चल भी रहा है; पर दूसरे कारण की ओर अभी तक समाज का ध्यान नहीं जा पाया है। प्रथम कारण के निवारण के सम्बन्ध में विचार मंथन ही नहीं हुआ; अपितु उसके लिए वर्तमान विद्यालयों के कर्ता-धर्ताओं ने कुछ उपाय भी किये; पर वे एकदम असफल साबित हुए हैं।

उन्होंने जो उपाय किये, उनमें एक यह था कि जब छात्र मिलना ही बन्द हो गए तो छात्रों को कॉलेजों में पढ़ने की सुविधा प्रदान की गई कि जिससे छात्रों में आर्थिक असुरक्षा की भावना समाप्त हो। इससे तत्काल तो लाभ नजर आया; क्योंकि लौकिक शिक्षा की सुविधा और नि:शुल्क निवास और भोजन के लोभ में छात्र संख्या बढ़ गई, प्रतिभाशाली छात्र भी आने लगे; पर वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कालेजी पढ़ाई में ही करने लगे, धार्मिक पढ़ाई नाममात्र की रह गई। सूट-पेंट धारी उक्त छात्रों में जैनदर्शन के ज्ञान की कमी के साथ-साथ आचरण भी जैनपद्धति के अनुकूल नहीं रहा। जब उन पर इसके लिए दबाव डाला जाने लगा तो वे अपने हितैषी गुरुओं और व्यवस्थापकों के शत्रु बन गए। परिणामस्वरूप लगभग ये सभी महाविद्यालय अशान्ति के स्थल भी बन गए।

आज तक सब कुछ मिलाकर हुआ यह कि जिस-तिस प्रकार महाविद्यालय तो चलते रहे, पर उनसे समाज को जैसे सदाचारी ठोस विद्वान चाहिए थे, मिलना बन्द हो गया। महाविद्यालय अभी भी चल रहे हैं, पर सदाचारी ठोस

विद्वान तैयार नहीं हो रहे हैं — यही समस्या है जो आज समाज को चिन्तित किए है।

कुछ लोग इस समस्या के समाधान के लिए नवीन महाविद्यालय खोलने की बात करते हैं तो विचार आता है कि जब वर्तमान विद्यालयों की भी यह स्थिति है कि उन्हें छात्र नहीं मिल रहे तो फिर नवीन विद्यालय खोलने का क्या औचित्य है? पर अभी-अभी गत वर्ष श्री टोडरमल दिगम्बर सिद्धांत महाविद्यालय के नाम से जयपुर में एक महाविद्यालय खुला है और उसमें छात्रों की भीड़ इसप्रकार आ रही है कि प्रवेश के लिए लिखित परीक्षायें ली जाती हैं, इन्टरव्यू को बुलाया जाता है, तब प्रवेश मिलता है। सुना जाता है कि एम.काम., बी.काम., बी.ए., इन्जीनियरिंग एवं एम.बी.बी.एस. का कोर्स छोड़-छोड़कर छात्र इस महाविद्यालय में आ रहे हैं। ऐसा इसमें क्या आकर्षण है — इस ओर समाज का ध्यान जाना स्वाभाविक है।

कहा जाता कि वहाँ नि:शुल्क आवास व भोजन की सुन्दर व्यवस्था है, पर वह तो अन्य महाविद्यालयों में भी है। यह भी कहा जाता है कि वे ५०० रु. माह सर्विस की गारन्टी देते हैं, किन्तु कहते हैं यहाँ तो लखपतियों के बच्चे भी प्रवेश पाने को लाइन में खड़े हैं, प्रविष्ट भी हुए हैं, पढ़ भी रहे हैं। उन्हें पाँच सात वर्ष बाद ५०० रुपये माह की नौकरी की गारन्टी क्या महत्त्व रखती है? इसीप्रकार इन्जीनियर और डॉक्टरों अथवा एम. काम. वालों को भी यह राशि कैसे आकर्षित कर सकती है ?

विचारने पर पता चलता है कि वहाँ पर प्रदान किया जानेवाला आध्यात्मिक वातावरण ही वह जादू है, जिसके आकर्षण से यह सब हो रहा है और जिसकी ओर समाज का ध्यान नहीं है। विवेकी चाहता है कि महाविद्यालयों के कार्यकर्त्ता एवं अधिकारी गण वहाँ जाकर उन कारणों का बारीकी से अध्ययन करें और उन्हें यदि अच्छे लगें तो स्वयं भी अपनायें, जिससे छुहारे से सिकुड़ते समाज की निधिरूप जो महाविद्यालय हैं, वे एकबार फिर खिल उठें।

इच्छुक व्यक्ति १३ अगस्त से पूर्व ही इस को देखें; क्योंकि सुना है १५ अगस्त से सोनगढ़ में चलने वाले शिविर में उक्त महाविद्यालय के सभी छात्र चले जावेंगे।

आशा है समाज इस ज्वलन्त समस्या के समाधान के लिए खुले दिल से विचार करेगी। इसे सामाजिक राजनीति में न उलझावें। जैनसमाज के पत्रकार बन्धुओं से भी अनुरोध है कि वे भी इसके समुचित समाधान के लिए उपाय सुझाते रहें, चर्चा-परिचर्चा चालू रखें। जहाँ से भी संभव हो इसका समाधान खोजें।

विवेकी को विकल्प है कि समाज चिन्ता ही न करती रहे, कुछ करे? अन्यथा हम चर्चा ही करते रहेंगे और समय हमारे हाथ से निकल जावेगा। यदि हम चाहते हैं कि भावी-पीढ़ी विद्वत् समाज से वंचित न रहे तो हमें कुछ-न-कुछ करना ही होगा और शीघ्र करना होगा। एक विकल्प यह भी आता है कि समाज कभी विद्वानों से विहीन न होगा; क्योंकि यदि अन्य विद्यालय नहीं भी चले तो भी उक्त विद्यालय समाज को अनेक विद्वान देगा और विद्वत् समाज का भावी इतिहास उनका होगा।

आशा है इस वेवाक विश्लेषण से समाज इस समस्या के समुचित प्रयास हेतु गहराई से विचार करेगा। •

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही अनन्त वक्रता है। जो जिसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, उसे उसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना ही अनन्त कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दु:खरूप एवं दु:खों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुत: कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है।

धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ५०-५१

एक अत्यन्त आवश्यक स्पष्टीकरण

(आत्मधर्म अप्रेल १९८१ में से)

'जैनदर्शन' नामक समाचार पत्र ने अपने १६ मार्च, १९८१ के सम्पादकीय में समाज में भ्रम फ़ैलाने वाली अनेक मनगढ़न्त बातें लिखी हैं, जिनसे वर्तमान समाज में तो अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो ही सकते हैं, साथ ही दिगम्बर समाज का अहित चाहने वाले भी भविष्य में इससे अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

यद्यपि 'आत्मधर्म' की नीति वाद-विवादों से पूर्णत: अलिप्त रहने की है, किसी भी प्रकार के प्रतिवाद करने की नहीं है; तथापि यहाँ दिगम्बर समाज और धर्म के हित में वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

'जैनदर्शन' लिखता है कि "कानजीभाई की गद्दी किन्हीं श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक महाशय को सौंपी गई है।"

यह एकदम झूठ एवं शरारतपूर्ण है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की न तो कोई गद्दी स्थापित की गई है और न उसे किसी को सौंपा ही गया है। सोनगढ़ की चल-अचल सम्पत्ति एवं धर्मप्रभावना के कार्य आज भी उन्हीं लोगों के हाथ में हैं, जिनके हाथ में पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के समय में थे। उनमें सभी व्यक्ति पूर्णत: दिगम्बर धर्म को मानने वाले हैं, एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जो गैर-दिगम्बर हो। उनमें नए और पुराने दिगम्बरों जैसा कोई भेद नहीं है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अनुयायियों में या तो वे लोग हैं जो स्थानकवासी सम्प्रदाय को छोड़कर दिगम्बर जैन हुए हैं या फिर दिगम्बर समाज के वे लोग हैं, जो उनके आध्यात्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बने हैं।

ट्रस्टीमण्डल, पदाधिकारी और प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में एक भी ऐसा नहीं है जो श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज से आया हो; तो फिर किसी के वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अत: यह कहना कि स्वामीजी की गद्दी किसी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक को सौंपी गई है - कितना सत्य है, समाज स्वयं विचार करे। ट्रस्ट के अध्यक्ष पूज्य श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी हैं, जो कि वर्षों से ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं। ट्रस्ट के संस्थापक-सदस्यों में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस बात से समस्त जैन समाज पूर्णत: परिचित ही है।

ऐसे अवसर पर जबकि दिगम्बर तीर्थ क्षेत्र अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर में श्वेताम्बर-दिगम्बरों का संघर्ष चल रहा हो और पूज्यश्री कानजीस्वामी के अनुयायी भी दिगम्बर समाज के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रहे हों; तब इसप्रकार की शरारत करना दिगम्बर समाज के हित में क्षम्य नहीं होना चाहिए।

श्री नेमीचन्दजी पाटनी और पण्डित श्री बाबूभाई मेहता के अतिरिक्त सोनगढ़ ट्रस्ट में अभी-अभी सेठ श्री रतनलालजी गंगवाल कलकत्ता वालों का लिया जाना इस बात का प्रमाण है कि वहाँ जन्मजात दिगम्बरों का पूर्ण सन्मान ही नहीं, अपितु प्रत्येक कार्य में उनका सक्रिय योगदान, सहयोग एवं प्रभुत्व भी है, किसी भी प्रकार की कोई उपेक्षा का प्रश्न ही नहीं है। जो भी कार्य सोनगढ़ में होंगे व हो रहे हैं, वे सब सर्वसम्मति से ही हो रहे हैं और होंगे भी। पंडित श्री बाबूभाई मेहता आज भी सोनगढ़ के प्राण हैं। श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट के तो वे अध्यक्ष हैं और भी सभी ट्रस्टों के वे प्राय: ट्रस्टी हैं।

अभी-अभी जो कार्य विभाजन हुआ है, उसमें समस्त प्रचार व प्रभावना कार्य जैसे आत्मधर्म, शिविर-संचालन, प्रकाशन आदि महत्वपूर्ण कार्य श्री नेमीचन्दजी पाटनी के संयोजकत्व में गठित समिति ने संभाले हैं, जिनमें पण्डित श्री बाबूभाई मेहता, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित ज्ञानचन्दजी आदि उनके महत्त्वपूर्ण सहयोगी हैं।

पण्डित श्री फूलचन्दजी की उपेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं है। वे सोनगढ़ के ही नहीं, समस्त दिगम्बर जैन समाज के एक जाने-माने दिग्गज विद्वान् हैं। उनके अभूतपूर्व ऐतिहासिक योगदान को दिगम्बर जैन समाज कैसे भूल सकता है? अब सोनगढ़ में पंचमेरू-नन्दीश्वर जिनालय का निर्माण होगा, जिसमें पूज्यश्री कानजी स्वामी एवं परमपूज्य आचार्यों तथा विद्वानों के अमृत वचनों के साथ-साथ बहिनश्री के वचनामृत भी उत्कीर्ण होंगे, जो कि किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है; क्योंकि जब और विद्वानों के वचन उत्कीर्ण हो सकते हैं तो बहिनश्री के क्यों नहीं? वे भी आत्मानुभवी विदुषी महिलारत्न हैं। उनका स्वामीजी के अनुयायियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी उपेक्षा किसी भी प्रकार उचित नहीं है, संभव भी नहीं है। देशभर के मन्दिरों में ज्ञानी विद्वानों के वचन लिखे हुए हैं, अत: यह कोई नया उपक्रम भी नहीं है।

मैं समाज को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि वह किसी प्रकार के प्रचार की शिकार न हो, भ्रम में न रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के अभाव में एक उनके अभाव के अतिरिक्त कोई कमी नहीं आवेगी, उनकी वाणी का प्रचार-प्रसार दूनी-चौगुनी गति से होगा।

मई के प्रथम सप्ताह में पूज्य गुरुदेवश्री के जन्म-दिवस का उत्सव सोनगढ़ में दि. २ मई १९८१ से ६ मई १९८१ ई. तक पाँच दिन का रखा गया है, उसमें आप सबको आमंत्रण है। आप सब आकर अपनी आँखों से स्वयं देखें कि कहाँ है दिगम्बरों की उपेक्षा और कहाँ है किसी प्रकार की कोई कमी?

सावन का शिविर जैसा प्रतिवर्ष लगता था, उसीप्रकार लगेगा; बहिनश्री की जयन्ती भी होगी। गुरुदेवश्री का स्मृति-दिवस भी विशाल पैमाने पर मनाया जायेगा। जितने विद्वान पर्यूषण में प्रवचनार्थ गत वर्षों में जाते रहे हैं; उनसे भी अधिक जावेंगे। पहिले से अधिक साहित्य छपेगा। छपेगा क्या? छप रहा है। अभी-अभी गोम्मटेश्वर बाहुबली समारोह के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट ने छ: भाषाओं में चार लाख रु. का सत्साहित्य प्रकाशित किया है। यद्यपि उसकी कीमत लागत-मूल्य ही रखी गई थी; तथापि

पूज्यश्री कानजीस्वामी की स्मृति में उसमें ३० प्रतिशत तक कमीशन देकर श्रवणबेलगोला में उपलब्ध कराया है।

सोनगढ़ भी सूना नहीं होगा। वहाँ भी वैसी ही चहल-पहल रहेगी। पण्डित श्री लालचन्दभाई, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पंडित ज्ञानचन्दजी आदि विद्वान वहाँ १-१ माह रहेंगे। आदरणीय पण्डित श्री बाबूभाई मेहता तो स्वास्थ्य ठीक होने पर अधिकांश समय वहाँ रहेंगे ही। सोनगढ़ में वैसा ही सब-कुछ चलेगा। सोनगढ़ और जयपुर कोई दो नहीं हैं, एक ही हैं। सोनगढ़ भी चमकेगा और जयपुर भी चमकेगा। किसी के प्रलाप से समाज भ्रम में न आवे, घर बैठे-बैठे ही उल्टा-सीधा न समझ लें। हमारा खुला आमंत्रण है, स्वयं आएं और देखें; फिर निर्णय करें।

सोनगढ़ दिगम्बरों का ही है और सदा दिगम्बरों का ही रहेगा और अपनी शांतिपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों से समाज में प्रकाश फैलाता रहेगा।

सोनगढ़ को श्वेताम्बर कहने वालों को ध्यान रखना चाहिए कि वे सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के परम भक्तों को श्वेताम्बर कहकर एक प्रकार से आचार्य कुन्दकुन्द को ही श्वेताम्बर कहने का महापाप कर रहे हैं।

जिस सोनगढ़ में श्वेताम्बरों की सर्वाधिक कटु आलोचना करनेवाले दिगम्बरों के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागमों को संगमरमर में उत्कीर्ण कराया गया हो, उसे श्वेताम्बरी कहने का साहस कौन बुद्धिमान करेगा?

जिस ट्रस्ट के रजिस्टर्ड ट्रस्टडीड में साफ-साफ दिगम्बर जैन शब्द लगा हो और जहाँ चार-चार दिगम्बर जिनालय हों और जिनमें अनेक दिगम्बर मूर्तियाँ विराजमान हों एवं जिनकी प्रशस्ति में आचार्य कुन्दकुन्द का नामोल्लेख हो तथा दिगम्बर जैन शब्द का स्पष्ट उल्लेख हो, उसे कौन श्वेताम्बर मानेगा?

जिन पूज्य स्वामीजी की प्रेरणा से संचालित प्रकाशन संस्थाओं ने दिगम्बर जैन ग्रन्थों की लगभग चालीस लाख प्रतियाँ गत चालीस वर्षों में प्रकाशित की

हों और घर-घर तक पहुँचाई हों - उन्हें और उनके अनुयायियों को प्रच्छन्न श्वेताम्बर कहना कितना हास्यास्पद है?

पूज्य स्वामीजी के हजारों प्रवचन टेप हैं और छप चुके हैं, जिनमें सैकड़ों स्थानों पर लिखा है कि एक दिगम्बर जिनधर्म ही सच्चा है, श्वेताम्बर मत कल्पित है। उन्हें और उनके अनुयायियों को कौन श्वेताम्बर मानेगा? श्वेताम्बर मत को गलत समझकर छोड़ देने वाले एवं जीवन के अन्त तक लगातार ४५ वर्ष तक श्वेताम्बर मत को कल्पित बताने वाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अनुयायियों को श्वेताम्बर कहना बुद्धि का दिवालियापन नहीं है तो और क्या है?

अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन तीर्थ को हड़पने के लिए वीरसेना गठित करने वाले एवं उसके प्रधान सेनापति बनने वाले श्वेताम्बर मुनि चन्द्रशेखर के अनेक लेख यही 'जैनदर्शन' छाप चुका है; क्योंकि वे लेख पूज्यश्री कानजीस्वामी के विरुद्ध थे। चन्द्रशेखर मुनि पूज्यश्री कानजीस्वामी से इसलिए नाराज थे कि उनके अनुयायियों ने दिगम्बर तीर्थ शिरपुर की रक्षा प्राण की बाजी लगाकर की थी। अब आप ही बतावें कि श्वेताम्बरों का पक्षपाती 'जैनदर्शन' है या कानजीस्वामी के अनुयायी?

यह समय इस तरह की बातें करने का नहीं था, पर 'जैनदर्शन' अपनी कुचेष्टा से विराम नहीं लेता है। यही कारण है कि समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित करना पड़ा है। यद्यपि पहले भी अनेक बार मनगढ़न्त झूठी अफवाहें फैलाने के कारण यह समाचार-पत्र समाज में अपनी विश्वसनीयता खो बैठा है। सोनगढ़ के विरुद्ध आचार्यों के आदेश और नई दुनियाँ सम्बन्धी समाचारों की अविश्वसनीयता को अभी समाज भूली नहीं थी कि इसने यह नया शिगूफा छोड़ दिया है।

भगवान बाहुबली सहस्त्राब्दि समारोह, जनमंगल महाकलश और प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी के विरुद्ध आचार्य श्री धर्मसागरजी के नाम से जो अनर्गल समाचार इस पत्र ने छापे थे, उनके सम्बन्ध में इसके कर्णधार इसी

पत्र में क्षमा माँग चुके हैं, प्रतिवाद प्रकाशित कर चुके हैं। अभी २ मार्च के अंक में आज के कुछ लोकप्रिय मुनिराजों को इस पत्र ने मिथ्यात्वशिरोमणि मारीचि लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की दिगम्बर धर्म एवं समाज को क्या देन है - इसका मूल्यांकन तो इतिहास करेगा। उसके बारे में अभी यहाँ हमें कुछ नहीं कहना है।

हमें तो आश्चर्य इस बात का होता है कि इसप्रकार की मनगढ़न्त बातें लिखते हुए उन्हें जरा भी संकोच क्यों नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के स्वर्गवास पर जिसने एक पंक्ति नहीं लिखी, समाचार तक नहीं दिया; आज उसे उनकी गद्दी की चिन्ता हो रही है।

गुरुदेवश्री के महाप्रयाण से हमारे ऊपर जो अनभ्र वज्राघात हुआ है, उसका अनुचित लाभ उठाने का असफल प्रयास जो लोग कर रहे हैं, उन्हें हम बता देना चाहते हैं कि अन्ततः वे निराश ही होंगे। उन्हें हम बता देंगे कि हम उस परमप्रतापी गुरु के शिष्य हैं, जिसने जीवनभर उनके प्रहार बिना उत्तर दिये झेले हैं और जो जीवनभर अपने उत्कृष्ट मार्ग पर निरन्तर चलते रहे हैं।

हमारी नीति वाद-विवादों में उलझने की न कभी रही है और न रहेगी। यदि ऐसा गंभीर आरोप नहीं लगाया जाता तो हम अभी भी कुछ नहीं लिखते।

सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को हम एक बार फिर आमंत्रण देते हैं, सानुरोध आग्रह करते हैं कि वे गुरुदेवश्री की जन्म-जयन्ती के अवसर पर सोनगढ़ अवश्य पधारें और अपनी आँखों से सब देखें। उस समय भावी रचनात्मक कार्यों की और भी अनेक योजनाएँ बनेंगी, उनमें आपके परामर्श का सहयोग भी हमें प्राप्त हो सकेगा।

'जैनदर्शन' नामक समाचार पत्र के इस कुत्सित प्रयास से सोनगढ़ के सम्बन्ध में जो भ्रम या शंकाएँ-आशंकाएँ समाज में निर्मित हुई हैं या हो रही हैं, वे सब इस स्पष्टीकरण से निर्मूल हो जावेंगी - ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

एक युग, जो बीत गया

(आत्मधर्म मई १९८१ में से)

अक्षय तृतीया के ठीक एक दिन पूर्व वैशाख शुक्ला द्वितीया तदनुसार दि. ५-५-८१ को आध्यात्मिक युगस्रष्टा क्रान्तिकारी महापुरुष पूज्यश्री कानजीस्वामी का बानवेवाँ जन्मदिवस है। उनकी अनुपस्थिति में आयोजित यह उनका प्रथम जन्मदिवस महोत्सव है, जो कि उनकी साधनाभूमि सोनगढ़ (जिला भावनगर-गुजरात) में पाँच दिन के विस्तृत कार्यक्रमों के साथ विशालरूप में मनाया जा रहा है।

यद्यपि इस महोत्सव में वह उल्लास तो दिखाई देना संभव नहीं है, जो उनकी उपस्थिति में मनाये जाने वाले महोत्सवों में रहता था; तथापि यह महोत्सव अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आध्यात्मिक क्रान्ति का एक युग जो पूज्यश्री कानजीस्वामी ने ४६ वर्ष पूर्व महावीर जयन्ती के दिन भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के सामने मुँहपत्ती फेंककर आरंभ किया था, और जो इन छियालीस वर्षों तक लगातार अपनी क्रान्तिकारी आध्यात्मिक चर्चाओं से चर्चित ही नहीं रहा, अपितु सम्पूर्ण जैनजगत को आन्दोलित किये रहा है।

जिन-अध्यात्म के क्षेत्र में यह युग निश्चित रूप से 'श्री कानजीस्वामी युग' रहा है। इस सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी, वाराणसी के विचार द्रष्टव्य हैं —

"कोई स्वीकार करे या न करे, किन्तु यदि कभी किसी तटस्थ इतिहासज्ञ ने जैनसमाज के इन तीन दशकों का इतिहास लिखा तो वह इस युग के इस

काल को 'कानजी युग' ही स्वीकार करेगा; क्योंकि जब वह इस समय के समाचार-पत्रों को उठाकर देखेगा तो उसे उन पत्रों की चर्चा का प्रधान विषय कानजीस्वामी ही दृष्टिगोचर होंगे। पत्रों में विरोध भी उसी का होता है, जिसका कुछ विशेष अस्तित्व होता है। विरोध से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व आँका जाता है। जो उस विरोध में भी अडिग रहता है, वही उसकी महत्ता का सूचक होता है।"

युगान्तरकारी युगपुरुष श्री कानजीस्वामी के देहावसान से एक ऐसा मार्गदर्शक ज्योतिस्तंभ ढह गया है, जो आत्मार्थीजनों को निरन्तर मार्गदर्शन करता था। अब उनके गूढ़ रहस्यों को उद्घाटन करनेवाले गुरुगंभीर प्रवचन एवं हृदय को हिला देनेवाले वैराग्यरस भरे मृदु संबोधन हमारे लिए बीते युग की कहानी बनकर रह गये हैं।

आत्मार्थीजनों को निजशुद्धात्मतत्त्व का स्वरूप बताने वाले एवं तत्त्वचर्चा का वातावरण प्रदान करने वाले युगपुरुष के अभाव में अब हमें अपना मार्ग स्वयं सोधना है, स्वयं पाना है; तत्त्वचर्चा का आध्यात्मिक वातावरण भी स्वयं बनाये रखना है। आत्महित अर्थात् आत्मानुभूति करने एवं उसकी निरंतरता बनाये रखने के लिए भी अब हमें स्वयं ही सजग रहना है; क्योंकि अब बार-बार प्रेरणा प्राप्त होने की संभावना समाप्तप्रायः हो गई है। मनुष्यभव की सार्थकता और सफलता एकमात्र आत्मानुभूति की प्राप्ति में ही है। अतः यदि हमने गुरुदेवश्री जैसे आत्महितकारी अद्भुत निमित्त का थोड़ा भी सत्संग प्राप्त किया है तो जगत के प्रपंचों से दूर रहकर हमें आत्मानुभव प्राप्त कर उन जैसा पावन जीवन व्यतीत करना चाहिए।

तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में भी अब हमें गुरुदेवश्री जैसी गहराई में उतरना होगा। सरलता के व्यामोह में यदि हम अब भी हल्की-फुल्की चर्चा ही करते रहे तो फिर गुरुदेवश्री ने जो अलौकिक मार्ग बताया है, जो सूक्ष्म तत्त्व समझाया है, उसकी चर्चा कौन करेगा, उनका उद्घाटन कौन करेगा? क्या वे सब रहस्य फिर रहस्य बनकर रह जावेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए।

यदि हम यहाँ-वहाँ के विकल्पों में ही उलझे रहे तो फिर उन रहस्यों का क्या होगा, जो गुरुदेवश्री ने अपनी दिव्यवाणी द्वारा उद्घाटित किए थे और जो आज भी हमारे पास टेपों में सुरक्षित हैं। क्या वे उन्हीं में कैद रह जावेंगे? हमें उन्हें कागज पर लाना है, जन-जन तक पहुँचाना है। बहुत काम है हमारे सामने जो बहुत आसानी से किए जा सकते हैं और किए जाने चाहिए।

आज हम युग के मोड़ पर खड़े हैं और हमें ऐतिहासिक उत्तरदायित्व वहन करना है। इस दृष्टि से यह महोत्सव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इस अवसर पर हमें अपने कर्त्तव्य का चुनाव करना है।

समाज अभी तक 'देखें, अब क्या होता है?' इस मुद्रा में था। अब वह अपनी कल्पनानुसार अटकलें लगाने लगा है। गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनकी क्रान्तिकारी आध्यात्मिक विचारधारा को जो कि आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म की ठोस भूमि पर पल्लवित हुई है, किन्हीं कारणों से नापसन्द करने वाले लोग, गुरुदेवश्री के अभाव में हमें कमजोर समझ कर तरह-तरह की अफवाहें उड़ाने लगे हैं। लोगों की दृष्टि में भावी रूपरेखा स्पष्ट न होने से तरह-तरह की अफवाहें उड़ाने लगे हैं। लोगों की दृष्टि में भावी रूपरेखा स्पष्ट न होने से कहीं-कहीं सामान्यजन दिग्भ्रमित भी होने लगे हैं। अत: अब समय आ गया है कि हमें अपनी भावी योजनाओं को सुनिश्चित करना चाहिए, स्पष्ट करना चाहिए। इस दृष्टि से भी यह महोत्सव अपना विशेष महत्त्व रखता है।

अनुकूलों और प्रतिकूलों सभी की निगाहें इस महोत्सव पर लगी हैं; क्योंकि हम सब अपनी बुद्धिमानी से किस ओर बढ़ रहे हैं - इसका संकेत इस अवसर पर बहुत कुछ स्पष्ट हो जायेगा। अनुकूल समाज भी बहुत दिनों तक अनिश्चय की स्थिति में नहीं रह सकता। भले ही हम लोग अपने मार्ग पर दृढ़ हों, पर युग परिवर्तन के काल में उसे स्पष्ट करना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा सामान्यजन में दिग्मूढ़ता की स्थिति निर्मित हो जाती है।

जिसप्रकार सरकार बदलने पर उसे अपनी नीतियों की घोषणा करना आवश्यक होता है; उसीप्रकार आज हमें समाज के सामने यह स्पष्ट करना होगा

कि गुरुदेवश्री के अभाव में हम लोगों की रीति-नीति क्या रहेगी? जिससे अप्रिय-अनिष्ट चाहने वाले लोग दुष्प्रचार न कर सकें, समाज को दिग्भ्रमित न कर सकें। अनुकूलों का मनोबल गिरने न पावें - इसके लिए भी भावी योजनाओं के बारे में समुचित स्पष्टीकरण व प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

इस अवसर पर बर्ती गई जरा-सी गफलत, असावधानी अपूरणीय क्षति बन सकती है। यह अवसर गुरुदेवश्री के वियोग में रोने का नहीं है, उनके कोरे गीत गाने का भी नहीं है; अपितु उनके बताये सन्मार्ग को गंभीरता से अपना कर स्वहित करने के साथ-साथ उसे जन-जन तक पहुँचाने का महान कार्य सामूहिक रूप से करने का निश्चय करना है, किए हुए निश्चय को दृढ़ता से दुहराना है और पूरी शक्ति से उसे क्रियान्वित करने में जुट जाना है।

उनके अभाव में मनाई जाने वाली उनकी यह प्रथम जन्म-जयन्ती आज हमारे लिए कसौटी बनकर आई है। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब एकबार उनके सामने यह प्रश्न आया कि जन्म-जयन्ती के इस आडम्बर से क्या लाभ है? तब वे सहजभाव से बोले थे कि "कुछ नहीं, बस बात यह है कि इस बहाने साहित्य की कीमत कम करने के लिए ज्ञानप्रचार में कुछ पैसा आ जाता है और जिनवाणी के अल्प मूल्य में घर-घर पहुँचने का सिलसिला आरंभ रहता है। इसे समाप्त करने से लाभ तो कुछ होगा ही नहीं, यह हानि हो सकती है। अत: चल रही है, सो चल रही है।"

इस जन्म-जयन्ती के अवसर पर भी हम इस प्रवाह को चालू रख सके तो मैं समझूँगा कि हम उनके अभाव में उनकी जन्म-जयन्ती उसी रूप में मना सके हैं। जहाँ तक मुझे स्मरण है, उनकी जन्म-जयन्ती में आया पैसा सदा ज्ञानप्रचार अर्थात् शास्त्रों की कीमत कम करने पर ही लगता रहा है। गुरुदेवश्री की भावना को ध्यान में रखकर आगे भी हमें उक्त परम्परा को कायम रखना चाहिए। ज्ञानप्रचार की उत्कट भावना उनके हृदय में निरन्तर प्रवाहमान रहा करती थी। इस बात का अनुभव उनके नज़दीक रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भली-भाँति है। उनकी इस पावन मनोभावना का समादर करते हुए हम सब

मिलकर संकल्प करें कि हे गुरुदेव! आपने जो कुछ हमें दिया है, हम उसे जन-जन तक अवश्य पहुँचायेंगे।

गुरुदेवश्री के वियोग में अब उनकी वाणी ही की शरण है; क्योंकि वह आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के वचनानुसारिणी है। अत: अब हमें उसके अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं प्रचार-प्रसार में तन-मन-धन से जुट जाना चाहिए।

आत्महित के साथ-साथ जनसामान्य के लिए वैसा ही आत्महित की प्रेरणा देने वाला वैराग्यमय वातावरण जैसा कि गुरुदेवश्री के सान्निध्य में रहता था, बनाये रखने की व्यवस्था भी हमें करनी होगी, जिससे सामान्य आत्मार्थीजन प्रेरणा प्राप्त करते रहें। बहुत से मुमुक्षु भाई वर्ष में माह-दो-माह गुरुदेवश्री की छत्रछाया में रहते थे। आज उनके सामने यह समस्या भी खड़ी है कि वे अब कहाँ जावेंगे? इसका समाधान भी हमें प्रस्तुत करना है। अन्यथा उनके आध्यात्मिक जीवन में शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है।

गुरुदेवश्री की स्मृति बनाये रखने के लिए उनके पाषाणी स्मारक से इन गतिविधियों के सफल संचालन की अधिक आवश्यकता है, अधिक महत्व है; क्योंकि इनसे ही उनके बताये मार्ग का स्थायित्व रहेगा। यदि हम गुरुदेवश्री के सच्चे अनुयायी हैं तो हमें सर्वप्रथम इसकी व्यवस्था करना चाहिए कि गुरुदेवश्री की साधनाभूमि सोनगढ़ में जो कार्यक्रम उनके सद्भाव में चलते थे, वे उसीप्रकार निरन्तर चलते रहे।

इन सब समस्याओं का समाधान हमें इस अवसर पर खोजना है। इस दृष्टि से भी यह जन्म-जयन्ती अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि जो उत्तरदायित्व पूज्यश्री के अभाव में हमारे कंधों पर आया है, उसे हम सब मिलकर आसानी से वहन कर सकते हैं; क्योंकि गुरुदेवश्री ने हमें विधिवत गढ़ा है, सर्वप्रकार सुयोग्य बनाया है, सब-कुछ दिया है, किसी भी प्रकार कमजोर नहीं रहने दिया है। बस, आवश्यकता मात्र दृढ़संकल्प के साथ चल पड़ने की है। •

१०

वीतराग-विज्ञान : एक वर्ष

(वीतराग-विज्ञान संपादकीय अगस्त १९८४ में से)

इस अंक के माध्यम से वीतराग-विज्ञान दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रहा है। एक वर्ष पूर्व जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ था, उनसे मुमुक्षु समाज और वीतराग-विज्ञान के पाठक अपरिचित नहीं। इसकी जन्मप्रक्रिया और उसके बाद जो कुछ घटा, उसने समस्त मुमुक्षु समाज को स्तम्भित कर दिया; क्योंकि 'पूज्य गुरुदेवश्री के पावन अध्यात्म और उनकी साधना भूमि से जुड़े लोग भी इसप्रकार का अप्रामाणिक व्यवहार करेंगे' —इसकी कल्पना भी कोई मुमुक्षुभाई नहीं कर सकता था।

पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद जिसप्रकार की स्थितियाँ बनती जा रही थीं; उनसे उत्पन्न विषमता के कारण पहले से ही संचालित तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के संचालन में ही कठिनाइयों का अनुभव हो रहा था, सुयोग्य समर्पित निष्पृही कार्यकर्त्ताओं की शक्ति अन्तर्बाह्य विग्रह में ही व्यर्थ बरबाद हो रही थी और चिन्तनशील विद्वानों की चिन्तनधारा एकंता के सूत्र खोजने में ही उलझकर रह गई थी। मिलजुल कर किये गये अथक प्रयासों से यदि कोई सर्वसम्मत सर्वहितकारी रास्ता निकलता तो निहित स्वार्थ येन केन प्रकारेण उसे क्रियान्वय नहीं होने दे रहे थे।

यह सब बातें बहुत दिनों तक छुपी न रह सकती थीं और न रहीं ही। सोनगढ़ के विचारों से असहमत लोग यद्यपि इस स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की ताक में थे; तथापि चुप थे, क्योंकि वे लोग सोनगढ़ के सुगठित प्रचारतंत्र को अन्तर्विग्रह से स्वयं विघटित होते देखने के लिए आतुर हो रहे थे, आँख गड़ाये बैठे थे। उनकी यह चुप्पी सद्भावनामूलक न होकर कुटिल नीति का एक अंग

ही थी; क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उनके द्वारा किए तीव्र प्रहार इस समय मुमुक्षुओं को संगठित कर सकते हैं। यदा कदा वे लोग अपनी इन भावनाओं को भविष्यवाणी के रूप में व्यक्त भी कर देते थे।

ऐसे कठिन समय में मुमुक्षु समाज के एकमात्र नेता श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता की दीर्घकालीन विषम अस्वस्थता; निरंतर साहस बँधानेवाले, हर अच्छे काम पर जमकर पीठ थपथपानेवाले विद्वद्वर्य श्री खीमचंदभाई का असामयिक स्वर्गारोहण तथा परिस्थितियों से दुखी होकर अन्तर की गहराई से तत्त्व प्रतिपादन करनेवाले पंडित श्री लालचंदभाई एवं उनके अनन्य सहयोगी डॉ. चन्दूभाई का सोनगढ़ ट्रस्ट की नवनिर्मित कार्यवाहक कमेटी से त्यागपत्र देकर समस्त प्रवृत्तियों से संन्यास लेकर बैठ जाना आदि स्थितियाँ भी हमारे सामने चुनौती के रूप में उपस्थित थीं।

इसप्रकार की स्थितियों में जबकि चलते हुए कार्यों को चलाना भी सहज नहीं रह गया था; कुछ नया आरंभ करना साहस ही नहीं, अति साहस का कार्य था।

यद्यपि उक्त विकट परिस्थितियों में भी पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट तथा उनकी सहयोगी संस्थाएँ पूज्य गुरुदेवश्री के पुण्यप्रताप एवं मंगल आशीर्वाद से संचालित तत्त्वप्रचार व प्रसार सम्बन्धी गतिविधियों के संचालन में पूरी शक्ति से जुटी हुई थीं, अपने कार्यों को निरन्तर विस्तार भी दे रही थीं, कृत्रिम-अकृत्रिम अन्तर्बाह्य विपत्तियों का दृढ़ता से सामना कर रही थीं; तथापि ऐसे अवसर पर कोई नया कार्य आरंभ करना या नई जिम्मेवारी लेना अतिसाहस नहीं तो और क्या था ?

पर बड़ी ही चतुराई से, छल-बल से, पूज्य पुरुषों के नाम के सहारे विश्वास में लेकर यह उत्तरदायित्व हमारे ऊपर लाद दिया गया। जबतक छल-प्रपंच सामने आया, तबतक हम बहुत आगे बढ़ चुके थे, वीतराग-विज्ञान का एक अंक निकाल भी चुके थे। अब पीछे हटना न तो संभव ही था और न उचित ही; अत: हमने उक्त उत्तरदायित्व से मुँह न मोड़कर इस महान कार्य को आप सबके भरोसे चुनौती के रूप में स्वीकार किया।

इस कठिन समय में हमने इस चुनौती को जनता-जनार्दन के भरोसे ही स्वीकार किया था। हमें यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि बिना आश्वासन के ही जो विश्वास हमने जनता-जनार्दन पर किया था, उसे उसने बखूबी निभाया ही नहीं, अपितु हमें इस सीमा तक सहयोग दिया कि एक वर्ष का शिशु 'वीतराग-विज्ञान' आज आत्मनिर्भर है, अपना भार सँभालने में स्वयं ही पूर्ण समर्थ है। क्या आज कोई बता सकता है कि विश्व का कोई भी मासिक पत्र, जो कि विशुद्ध आध्यात्मिक हो, अपने हितैषियों और पाठकों के सहयोग से बिना विज्ञापन लिए एक वर्ष में ही आत्मनिर्भर हो गया हो ? इससे अधिक अपेक्षा धर्मप्रेमी जनता से और की ही क्या जा सकती है ?

इस अवसर पर वीतराग-विज्ञान की वर्तमान स्थिति पर एक निगाह डाल लेना अनुचित नहीं होगा।

आज वीतराग-विज्ञान के १९ परमसंरक्षक सदस्य, १० संरक्षक सदस्य, ७ परमसहायक सदस्य, ४० सहायक सदस्य, ३०१८ स्थाई आजीवन सदस्य, २१८ अस्थाई आजीवन सदस्य और १४ विदेशी आजीवन सदस्य हैं — इसप्रकार कुल मिलाकर ३३२६ आजीवन सदस्य हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त लगभग २२०० वार्षिक, द्विवार्षिक और त्रिवार्षिक सदस्य हैं। इसप्रकार अभी यह प्रतिमाह ६००० छप रहा है।

हम अनुभव करते हैं कि जनता ने इस अद्‌भुत और अभूतपूर्व सहयोग के माध्यम से हमारे प्रति असीम स्नेह और वात्सल्य तो प्रदर्शित किया ही है, साथ ही हमारी तत्त्वप्रचार सम्बन्धी रीति-नीति का भी हार्दिक समर्थन किया है, अध्यात्म के प्रति आदर व्यक्त किया है, हमारी प्रतिपादन शैली एवं उसमें प्रतिपादित वीरवाणी के सार के प्रति अपना बहुमान व्यक्त किया है, पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं विश्वास व्यक्त किया है।

यद्यपि यह सत्य है कि जनता का यह अपार स्नेह आकस्मिक नहीं था, क्योंकि इसके पूर्व आत्मधर्म के २६०० परिपत्र हमारे पक्ष में भेजकर जनता ने हममें अपना अटूट विश्वास व्यक्त किया था। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ लोगों

द्वारा हमारे साथ किए गये छल-प्रपंच एवं अप्रामाणिक व्यवहार ने जनता को हमारे प्रति और भी अधिक संवेदनशील बना दिया है। जनता का 'वीतराग-विज्ञान' के प्रति यह अपार स्नेह उन लोगों द्वारा किए गये अव्यवहार के प्रति रोष की भी परोक्ष अभिव्यक्ति है।

'वीतराग-विज्ञान' को निकालने और निकालते रहने की चुनौती को स्वीकार कर हमने अपने दृढ़ संकल्प को भी प्रत्यक्ष-परोक्ष अभिव्यक्ति प्रदान की है कि हम झंझटों में उलझे बिना निरन्तर जिनवाणी-गुरुवाणी के प्रचार-प्रसार में शान्ति से लगे रहना चाहते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि विवादों में उलझकर चित्त को कलुषित करते रहना मानव जीवन की सबसे बड़ी हार है और उनसे तटस्थ रहकर आत्महित और आत्महितकारी चिन्तन-मनन-अध्ययन, उपदेश, लेखन में संलग्न रहना ही जीवन है, जीवन की सबसे बड़ी जीत है।

हमें प्रसन्नता है कि जनता ने हमारी इस मनोभावना को जाना है, पहिचाना है, सराहा है, समर्थन दिया है, सहयोग दिया है और हमें अपने चुने हुए मार्ग पर निरन्तर चलते रहने के लिए उत्साहित किया है। तदर्थ उसके आभारी है एवं जनता के इस प्रोत्साहन को आदेश मानकर जीवन भर शान्ति से यही सब-कुछ करते रहने के लिए कृतसंकल्प हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि सोनगढ़ हमारा तीर्थधाम है और उनकी प्रेरणा से देश-विदेश में निर्मित जिनमन्दिर हमारे जिनायतन हैं; उन्हें हम किसी भी स्थिति में न तो छोड़ ही सकते हैं और न ही उस आस्था का परित्याग ही कर सकते हैं, जो हमारे हृदय की गहराई में उनके प्रति विद्यमान है।

हमारे श्रद्धास्पद तीर्थधाम पर अनधिकृतरूप से कब्जा किए लोगों से हमारी असहमति हो सकती है; क्योंकि वे गृहीत मिथ्यात्वपोषक प्रवृत्तियों द्वारा जिनशासन को विकृत करने का असफल प्रयास कर रहे हैं।

समय किसी को क्षमा नहीं करता ? अत: हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह सब भी क्षणिक ही है, अनित्य ही है, समय पर सब-कुछ सहज ही ठीक हो

जायगा; अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलते हुए सुसमय की प्रतीक्षा करते रहने के अतिरिक्त शान्तिप्रिय आत्मार्थियों के लिए कोई उपायान्तर नहीं है।

'वीतराग-विज्ञान' के लिए यह एक वर्ष बड़ा ही तूफानी रहा है। व्यवस्था की दृष्टि से यह बात और भी अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि सम्पूर्ण देश से एक सात इतने अधिक ग्राहकों का बनना, आत्मधर्म के ग्राहकों का वीतराग-विज्ञान के ग्राहकों में परिवर्तित होना; परिपत्रों कूपनों का आना-जाना आदि इतने कार्य रहे हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं।

आदरणीय पाटनीजी के निर्देश में प्रबन्ध सम्पादक वीरसागर शास्त्री ने इस कार्य को जिस कुशलता और श्रम के साथ सँभाला है; उसकी जितनी भी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। साथ ही श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के सभी छात्रों का समर्पित सहयोग प्राप्त रहा है। इनके सहयोग के बिना तो यह कार्य इतनी शीघ्रता से सम्पन्न होना सम्भव ही न था। अनेक लोगों के दिन-रात परिश्रम से ही सम्पूर्ण कार्य व्यवस्थित हो सका है।

इस अवसर पर बम्बई मुमुक्षु मण्डल के कतिपय सदस्यों के महत्त्वपूर्ण सहयोग को स्मरण किए बिना नहीं रहा जा सकता, जिन्होंने अस्थाई आजीवन सदस्यों की समस्या के समाधान में अभूतपूर्व सहयोग दिया है। उनके इस सहयोग ने 'वीतराग-विज्ञान' को 'ही निरापद नहीं किया, अपितु सोनगढ़ ट्रस्ट के प्रति उत्पन्न असन्तोष को भी दूर करने में आशातीत मदद की है।

जहाँ तक वीतराग-विज्ञान की विषय-वस्तु और संपादन की बात है, उसमें आत्मधर्म की सुविचारित रीति-नीति को लगभग पूर्ववत् ही कायम रखा गया है। संक्रातिकाल में कुछ करना न तो उचित ही था और न ही अभीष्ट। संपादन और विषयवस्तु सम्बन्धी रीतिनीति को भी पाठकों ने भरपूर सराहा है, अतः अब उसमें विशेष परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है; फिर भी मैं उसमें अभी और भी परिमार्जन की आवश्यकता अनुभव करता हूँ, इसे और अधिक उपयोगी, सरल, सरस और सर्वग्राही बनाना चाहता हूँ। समय की कमी के कारण तत्काल वह सब-कुछ सम्भव नहीं हो पा रहा है।

उक्त परिस्थितियों के कारण इस वर्ष कुछ अधिक ही व्यस्तता रही है। आदरणीय बाबूभाईजी की अस्वस्थता एवं श्री लालचंदबाई व युगलजी का भी स्वास्थ्य के कारण बाहर अधिक न निकल पाने के कारण भी बाहर आना-जाना कुछ अधिक हो गया है। मैं सच्चे हृदय से इसे कुछ कम अवश्य करना चाहता हूँ, पर स्नेहीजनों का वात्सल्य इसमें कुछ अधिक ही बाधक बनता जा रहा है। लगता है इस सन्दर्भ में कुछ दृढ़ता से काम लिए बिना चलेगा नहीं।

यद्यपि अधिक भ्रमण से तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों को सहज ही विस्तार प्राप्त होता है, तथापि स्थाई महत्त्व के साहित्य-निर्माण में बाधा भी कम नहीं होती। दोनों ही प्रवृत्तियाँ उपयोगी हैं, आवश्यक हैं; फिर भी दोनों में सन्तुलन तो स्थापित करना ही होगा।

इन सबसे ऊपर आत्महित की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होना है, अधिक भ्रमण उसके भी अनुकूल नहीं है। आत्महित के साथ-साथ परहित की प्रवृत्तियों को पुनर्गठित करने में स्नेही श्रोताओं और पाठकों को जो असुविधा हो, उसके लिए क्षमाप्रार्थना के साथ-साथ इस भावना को दुहराते हुए विराम लेता हूँ कि शेष जीवन वीतराग-वाणी की शरण और सेवा में ही संलग्न रहे, समाप्त हो। ●

हम देखते हैं कि हमारा चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना, निबटना आदि सभी दु:ख दूर करने और सुखी होने के लिए ही होते हैं। गहराई से विचार करें तो हमारी छोटी से छोटी क्रिया भी इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होती है। जब हम एक आसन से बैठे-बैठे थक जाते हैं तो चुपचाप आसन बदल लेते हैं और हमारा ध्यान इस क्रिया की ओर जाता ही नहीं है। हम यह समझते ही नहीं हैं कि अभी हमने दु:ख दूर करने के लिए कोई प्रयत्न किया है; पर हमारा यह छोटा-सा प्रयत्न भी दु:ख दूर करने के लिए ही होता है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १६

११

जरा मुड़कर देखें

(वीतराग-विज्ञान मई १९८६ में से)

हम सब के अनन्य उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को दिवगंत हुए पाँच वर्ष से भी अधिक दिन हो गये हैं। उनके देहावसान पर हमने कुछ भावनाएँ व्यक्त की थीं। हम उन पर कहाँ तक चल सके हैं — इसके निरीक्षण के लिए हम जरा मुड़कर भी देखें और आत्मनिरीक्षण करें कि हम कहीं भटक तो नहीं गये हैं। हम अपने संकल्पित सन्मार्ग पर हैं या नहीं — इस बात को जानने के लिए हम अपने कुछ उन विचारों को प्रस्तुत करते हैं, जो हमने उनके महाप्रयाण के अवसर पर अभिव्यक्त किए थे।

फरवरी, १९८१ ई. के आत्मधर्म (हिन्दी) के 'अब क्या होगा ?' सम्पादकीय में लिखा था —

"गुरुदेवश्री के स्थान की पूर्ति की कल्पना भी काल्पनिक ही है; क्योंकि उनके स्थान की पूर्ति भी मात्र वे ही कर सकते थे। गुरुदेव तो गए, न तो उन्हें वापिस ही लाया जा सकता है और न नये गुरुदेव ही बनाये जा सकते हैं। **गुरुदेव बनते हैं, बनाये नहीं जाते। जो बनाने से बनते हैं या बनाये जाते हैं; वे गुरु नहीं, महंत होते हैं, मठाधीश होते हैं। उनसे गुरुगम नहीं मिलता, गुरुडम चलता है।**

जिन गुरुदेवश्री ने जीवनभर गुरुडम का विरोध किया, उनके नाम पर गुरुडम चलाना न तो उपयुक्त ही है और न उन्हें भी इष्ट था, होता तो अपने उत्तराधिकारी की घोषणा वे स्वयं कर जाते। उनके जीवनकाल में भी जब उनसे इसप्रकार की चर्चायें की गईं तो उन्होंने उदासीनता ही दिखाई।

अत: उनके रिक्त स्थान की पूर्ति की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। रहा प्रश्न उनके द्वारा या उनकी प्रेरणा से संचालित तत्त्वप्रचार की गतिविधियों के भविष्य

का। सो भाई, पिता के देहावसान होने पर उनके लगाये कारखाने बन्द नहीं होते, अपितु एक से अनेक होकर और अधिक द्रुतगति से चलते हैं। जब दो-चार पुत्रों के होने मात्र से ये कल-कारखाने द्विगुणित-चतुर्गुणित होकर चलते हैं, तो जिस धर्मपिता ने चार लाख से भी अधिक धर्मसंतानें छोड़ी हों, उसके चलाये कार्यक्रम कैसे बन्द हो सकते हैं ? वे तो शतगुणित-सहस्रगुणित होकर चलने चाहिए और चलेंगे भी। इसमें आशंकाओं के लिए कोई अवकाश नहीं है।

हम उन गुरु के शिष्य हैं, जिन्होंने कभी पर की ओर नहीं देखा, मुड़कर पीछे नहीं देखा, जिन्होंने मात्र स्वयं को देखा और स्वयं के बल पर ही चल पड़े। **वे जहाँ खड़े हो गए, वह स्थान तीर्थ बन गया; वे जिधर चल पड़े, उधर लाखों लोग चल पड़े। वे भगीरथ थे,जो अपने भागीरथ पुरुषार्थ द्वारा अध्यात्म-भागीरथी को हम तक लाये और जिन्होंने सारे जगत को उसमें डुबकी लगाने के लिए पुकारा।** हम भी कुछ कम नहीं, उस भागीरथी की निर्मल जलधारा को हम जन-जन तक पहुँचायेंगे। वे अकेले थे, हम चार लाख से भी अधिक हैं; पर वह तूफानी वेग हममें कहाँ ? न सही तूफानी वेग से, पर चलेंगे हम भी।

'अब क्या होगा ?' पूछने वालों को हम विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वही होगा जो गुरुदेवश्री ने बताया है, चलाया है, जो अभी चलता है, अभी तक चलता रहा है, वह अब भी चलता रहेगा। उसीप्रकार चलता रहेगा, उसमें कोई कमी नहीं आयेगी, हो सकता है कि उसकी चाल में और भी तेजी आ जावे। पर भाई ! गुरुदेव तो गये सो गये, उन्हें तो कहाँ से लायें ?

पर एक बात यह भी तो है कि हम जिस युग में पैदा हुए हैं, वह युग लाख बुरा हो, पर इसमें वे सुविधायें हैं, जो महावीर के, कुन्दकुन्द के, अमृतचंद्र के जमाने में नहीं थीं। आज गुरुदेव के हजारों घण्टों के टेप हमारे पास हैं, जिन्हें हम कभी भी उन्हीं की आवाज में सुन सकते हैं, घण्टों के उनके वीडिओ टेप (बोलती फिल्म) हैं, जिनके माध्यम से हम गुरुदेवश्री को चलते-फिरते देख सकते हैं, बोलते हुए देख सकते हैं, सुन सकते हैं, बस वे संदेह-सचेतन हमारे पास नहीं हैं, पर महावीर की, कुन्दकुन्द की, अमृतचंद्र की तो आवाज भी हमारे

पास नहीं, चित्र भी हमारे पास नहीं; चलती-फिरती, बोलती फिल्म की बात तो बहुत दूर की कल्पना है।

इस अर्थ में हम बड़े भाग्यशाली हैं। अब तक तो हमें उनका साक्षात् लाभ मिलता था, पर अब हमें एकलव्य बनना होगा। उनके अचेतन चित्रों से, साहित्य से, टेप से, चेतन शिष्यों से देशना प्राप्त करनी होगी।

अब क्या होगा ? होगा क्या ? दुनिया तो अपनी गति से चलती ही रहती है, वह तो कभी रुकती नहीं। बड़े-बड़े लोग आये और चले गये, पर यह दुनिया तो निरन्तर चल ही रही है, इसकी गति में कहाँ रुकावट है ? जगत की बात ही क्यों सोचते हो ? यह सोचो न कि हम सबको भी तो एक दिन इसीप्रकार चले जाना है।

'अब क्या होगा ?' इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति को तोड़ो न ! छोड़ो न इस व्यर्थ के विकल्प को और चल पड़ो उस रास्ते पर, जो गुरुदेवश्री ने बताया है और जगत को बताओ वह रास्ता, जो गुरुदेवश्री ने आपको व हम सबको बताया है।

भगवान महावीर के चले जाने पर गौतम गणधर रोने नहीं बैठे थे, अपितु महावीर की बताई राह पर चलकर स्वयं महावीर (सर्वज्ञ) बन गये थे। यदि हम गुरुदेवश्री के सच्चे शिष्य हैं तो हमें भी गुरुदेवश्री के चले जाने पर वही राह अपनानी चाहिए, जो महावीर के अनन्यतम शिष्य गौतम ने अपनाई थी।

गुरुदेवश्री के अभाव में उदासी तो सहज है, पर निराशा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उठो ! मन को यों निराश न करो और चल पड़ो उस राह पर। बातों से नहीं, आओ ! हम सब मिलकर अपने कार्यों से दुनिया को इस प्रश्न का उत्तर दें, दुनिया की इस शंका का समाधान प्रस्तुत करें कि अब क्या होगा ?''

— यह है हमारा वह संकल्प, जिसे हमने गुरुदेवश्री के महाप्रयाण पर व्यक्त किया था।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी क्या थे ? — इसके संबंध में आज कोई कुछ भी क्यों न कहे; पर जब उनका महाप्रयाण हुआ था, तब उनका जीवनभर विरोध करनेवाले जैनगजट ने भी अपने संपादकीय में लिखा था —

"उन्होंने अपने जीवन में करीब ६५ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा व ३५ वेदी-प्रतिष्ठायें करवाई और श्वेताम्बर बन्धुओं को दिगम्बरी बनाया। समयसार व मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे ग्रन्थों के पठन-पाठन की लहर समाज में दौड़ाई तथा स्वाध्याय के प्रचार का बिगुल बजा दिया। विरोध होता रहा, लेकिन विरोध को सहते हुए दिगम्बर धर्म के प्रचार या प्रसार में किसी भी प्रकार की कसर उठा नहीं रखी।

आबाल-वृद्धों में दिगम्बर धर्म का प्रचार किया और रात्रिभोजन, जमीकन्द आदि का त्याग उनके प्रभाव से स्वत: उनके अनुयायी करते गये।

देश में सोनगढ़ एकप्रकार का प्रसिद्ध स्थान बन गया, जहाँ से उन्होंने जिनवाणी का तन-मन से जीवनपर्यन्त साधना करने के साथ ही देश में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचार किया। शिक्षण-शिविर के द्वारा एक नई दिशा देकर धर्मप्रचार की एक अद्‌भुत योजना समाज को दी।

प्राय: यह देखा गया है कि सम्प्रदाय बदलनेवाले अन्त में पथभ्रष्ट भी होते रहे हैं, लेकिन स्वामीजी सदा लौहपुरुष बनकर रहे।

स्वामीजी के उठ जाने से वास्तव में एक महान् प्रतिभासम्पन्न व पुण्यात्मा आध्यात्मिक वक्ता का सदा के लिए अभाव हो गया।

गजट परिवार भी उनके देहावसान पर अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ वीरप्रभु से प्रार्थना करता है कि स्वामीजी को पूर्ण रत्नत्रय की प्राप्ति होकर शीघ्र मुक्तिलाभ हो।[१]"

जैनगजट परिवार को आज कुछ भी लिखने के पहले अपनी उक्त पंक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए। पूज्य स्वामीजी के महाप्रयाण के बाद जो कुछ भी हुआ, यदि उसकी आलोचना वह करता है तो बात और है, पर अब स्वामीजी की आलोचना करना क्या स्ववचनबाधित नहीं है ?

स्वामीजी के महाप्रयाण के बाद सोनगढ़, जयपुर और सम्पूर्ण देश में जो कुछ भी हुआ है, उसके संबंध में अब मुझे कुछ भी नहीं कहना है; क्योंकि सम्पूर्ण समाज सम्पूर्ण घटनाचक्र एवं स्थितियों से भलीभाँति परिचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के अवसर पर हमने जो संकल्प किये थे, उनकी पूर्ति करने में जिनका वरदहस्त एवं परिपूर्ण सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त रहा है, जिनके साथ सदा कंधे से कंधा मिलाकर हमने कार्य किया है, वे पण्डित खेमचन्दभाई जेठालाल सेठ एवं बाबूभाई चुन्नीलाल महेता शारीरिक दृष्टि से क्रमशः शिथिल होते गये; पर जबतक वे रहे, उनका सम्बल हमें अन्त तक प्राप्त रहा; पर आज वे भी हमारे बीच नहीं हैं।

गुरुदेवश्री के अभाव में गये विगत पाँच वर्षों में अगणित विनाशकारी तूफान आये, गुरुदेव द्वारा आरंभित आध्यात्मिक क्रान्ति पर भीतर और बाहर से अगणित आक्रमण हुये और निरन्तर हो रहे हैं, फिर भी वह उद्दाम वेग से निरन्तर गतिशील है, अगणित अवरोधों के बाद भी उसकी गति अवरुद्ध नहीं हुई है। इसे हम अपना सौभाग्य ही नहीं समझते, अपितु संकल्प की कसौटी भी मानते हैं।

कुछ भी हो, इन स्थितियों ने जहाँ एक ओर हमें एक अद्‌भुत दृढ़ता और दबावों को बरदाश्त करने की असीम क्षमता प्रदान की है तथा सुविचारित रीति-नीति पर हर कीमत पर चलते रहने का साहस जगाया है, वहाँ दूसरी ओर जगत के इस स्वरूप से बहुत कुछ विरक्त भी किया है, सामाजिक प्रपंचों से सर्वथा दूर रहने का भाव भी जगाया है; कौन कितने गहरे पानी में है — यह भी जानने को मिला है।

हमारी सुव्यवस्थित रीति-नीति यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री और उनके द्वारा बताये गये जिनागम के रहस्य एवं तत्त्वज्ञान को हम किसी भी कीमत पर छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं। इसीप्रकार गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद सोनगढ़ में समागत विकृतियों का समर्थन भी हम किसी भी कीमत पर नहीं कर सकते हैं। न हमने आज तक उनका समर्थन किया है और न कभी करेंगे ही। पाँच वर्ष पूर्व किये गये संकल्प को हमने पूरी निष्ठा से आज तक निभाया है और आज उनके ९७वें जन्मदिवस पर अपने संकल्प को फिर दुहराते हैं। **ध्यान रहे हमारा यह बहुमूल्य मनुष्यभव न तो किसी पोपडम के पोषण के लिए ही समर्पित हो सकता है और न इसे किसी की असीम महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के**

लिए बलिदान ही किया जा सकता है। हमारा यह बहुमूल्य जीवन तो आत्महित और जिनवाणी की सेवा में ही सम्पूर्णतः समर्पित है।

मई का माह हमारे लिये अति महत्त्व का माह है; क्योंकि इसमें १० मई, १९८६ को पूज्य गुरुदेवश्री का ९७वाँ जन्मदिन है और २२ मई, १९८६ को प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के स्वर्गवास को १ वर्ष पूरा होने जा रहा है। १० मई, १९८६ को पूज्य गुरुदेवश्री की जन्म-जयन्ती तो सम्पूर्ण देश में स्थान-स्थान पर बड़े ही उत्साह से मनाई ही जा रही है, पण्डित श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता का प्रथम स्मृति दिवस भी गुजरात की राजधानी अहमदाबाद में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा संचालित प्रशिक्षण-शिविर के आरंभ होने के एक दिन पूर्व २२-५-८६ को बड़े ही उत्साह से मनाया जा रहा है।

इस अवसर पर हम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अनुयायियों, भक्तों, अन्धभक्तों, विरोधियों, अन्धविरोधियों सभी से विनम्र अनुरोध करना चाहते हैं कि कोई भी अब उनके दिवंगत होने के पाँच वर्ष बाद भी राग-द्वेषवश इसप्रकार के कार्य न करें, व्यवहार न करें कि जिससे न केवल उनकी प्रतिष्ठा धूमिल होती हो, अपितु जिन-अध्यात्म एवं जैनसमाज की भी अपूरणीय क्षति हो रही है।

पूज्य गुरुदेवश्री के समान ही सभी आत्मार्थीजन व्यर्थ के वाद-विवाद से स्वयं को सम्पूर्णतः पृथक् कर आत्महित में ही सम्पूर्णतः संलग्न हो जावें — इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। •

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष का तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्व वाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में संतुलित रहते हैं अडिग रहते हैं।

सत्य की खोज, पृष्ठ २३३

सागर प्रशिक्षण शिविर
एक विहंगावलोकन
(वीतराग-विज्ञान मई १९८५ में से)

सागर मध्यप्रदेश के उन सौभाग्यशाली सदाचारी नगरों में है, जिसे वर्णीजी का आशीर्वाद और सत्समागम सर्वाधिक प्राप्त रहा है। इस युग को आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने में जो स्थान आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी को प्राप्त है, वही स्थान सम्पूर्ण जैन समाज में जैनदर्शन व धर्म के अध्ययन-अध्यापन में गुरु गोपालदासजी वरैया एवं वर्णीजी को प्राप्त रहा है।

आज जैनदर्शन के जो भी बुजुर्ग विद्वान दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में उनके ही शिष्य-प्रशिष्यों में हैं, उनके द्वारा ही तैयार हुए हैं।

उन्होंने उस युग में कार्य आरम्भ किया था, जब समाज में मात्र तत्त्वार्थसूत्र का पाठ कर देनेवाला साधारण व्यक्ति ही बड़ा विद्वान माना जाता था। उन्होंने मात्र प्राकृत और संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ एवं जैनदर्शन के पाठी विद्वान ही तैयार नहीं किये, अपितु गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोलकर सामान्यजनों को भी जागृत किया।

भारत का मध्यक्षेत्र बुन्देलखण्ड भारतीय संस्कृति सभ्यता एवं पुरातत्व की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र है। जैन संस्कृति के प्राचीनतम केन्द्र इस प्रदेश में देवगढ़ जैसे अनेकानेक कलातीर्थ हैं; जो जैनसंस्कृति की प्राचीनता एवं भूतकालीन अभूतपूर्व समृद्धि को आज भी उजागर कर रहे हैं। सिद्ध क्षेत्र और अतिशय क्षेत्रों की भी यहाँ कमी नहीं है। प्रत्येक दस-बीस किलोमीटर पर किसी न किसी तीर्थ के दर्शन आपको होंगे ही। तीर्थंकरों के स्मारक ये तीर्थ इस भूमि की पवित्रता के जीवन्त प्रमाण हैं।

यहाँ की धर्म-भीरु जनता में आज भी वे संस्कार विद्यमान हैं, जो देश के अन्य भागों में बसनेवाले लोगों में दुर्लभ होते जा रहे हैं।

समाज के मार्गदर्शक विद्वान होते हैं। जैनसमाज में आज जो भी विद्वान देखने में आ रहे हैं। उनमें से अधिकांश इस पावन भूमि की ही देन है। वीतरागी सन्तों का विहार भी जितना इस प्रदेश में होता रहता है, उतना अन्यत्र नहीं। सहज धार्मिक वातावरण ही इन सबका एकमात्र कारण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की आध्यात्मिक क्रान्ति का लाभ भी जितना इस प्रदेश ने उठाया है, उतना अन्य प्रदेशों ने नहीं। शुद्धाम्नाय का असली गढ़ भी बुन्देलखण्ड ही है। तारणस्वामी की आध्यात्मिक क्रान्ति का मूलस्थान भी यही भूभाग रहा है। इस पावन भूभाग में जन्म लेने के कारण मैं अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करता हूँ।

जैनसंस्कृति, सभ्यता, सदाचार एवं जिनवाणी की आराधना के गढ़ इस भूभाग के केन्द्र में स्थित 'सागर' नगर भी वर्णीजी का स्पर्श पाकर धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्व पूर्ण केन्द्र बन गया है।

वैसे तो मैंने लगभग २५ वर्ष पूर्व सागर में एक पर्यूषणपर्व भी किया था, पर सर्वाधिक स्मरणीय है १५ वर्ष पूर्व नवम्बर, १९७१ ई. में लगा वह शिक्षण-शिवर, जिसमें आदरणीय विद्वद्वर्य सर्वश्री खीमचँदभाई जेठालाल शेठ, राजकोट; बाबूभाई चून्नीलाल मेहता, फतेपुर; बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा; सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी, वाराणसी; एवं पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी आदि विद्वान भी पधारे थे। स्थानीय विद्वान तो वहाँ थे ही। सागर भी विद्वानों की नगरी है — यह तो सब जानते ही हैं।

क्या वातावरण था उस समय का ? सारा सागर ही अध्यात्ममय हो गया था। नवम्बर की भयंकर सर्दी में भी रात को ग्यारह बजे तक कटरा बाजार के खुले मैदान में लोग जमे रहते थे, कोई हिलने का भी नाम नहीं लेता था। सायं साढ़े सात बजे से प्रवचन आरंभ होते, एक-एक घंटे के तीन प्रवचन होते, जिसमें मेरा नम्बर सबसे अन्त में आता, पर जनता उठने का नाम भी न लेती, बड़े ही

मनोयोग से सुनती। सागर की धार्मिक जनता की आध्यात्मिक रुचि के दर्शन मुझे उससमय ही हुए; और मेरे हृदय में सागर के लिए एक सम्माननीय स्थान बन गया।

वह शिविर तारण-जयन्ती के असवर पर तारण-जयन्ती के उपलक्ष्य में ही लगा था। इस वर्ष फिर तारण-जयन्ती के अवसर पर ही मुझे सागर जाने का अवसर मिला। मुझे यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि इस वर्ष भी मुझे सागर में वही जागृति दिखाई दी, वही स्नेह मिला।

इस वर्ष तारणस्वामी के ग्रन्थराज ज्ञानसमुच्चयार एवं समयसार गाथा १६ पर प्रवचन करने का अवसर मिला। ज्ञानसमुच्चयसार पर हुए प्रवचनों को प्रकाशित करने का भाव श्रीमान् सेठ भगवानदासजी को हुआ है, जो 'गागर में सागर' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं।

श्री सेठ भगवानदासजी एवं उनके अनुज स्व. श्री शोभालालजी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सत्समागम में निरन्तर रहे हैं। वे उनके सत्समागम का लाभ लेने प्रतिवर्ष सोनगढ़ जाया करते थे और वहाँ तीन-चार माह रहते थे। उन्होंने वहाँ विशाल बंगला व अतिथि-निवास भी बनाया है।

यद्यपि वे इससमय अस्वस्थ चल रहे हैं, ८५ वर्षीय वृद्धावस्था है; तथापि शिविर में सोत्साह भाग लेते थे। उनकी भावना हुई कि इस वर्ष सागर में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा संचालित वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगना चाहिए। परिणामस्वरूप तारण-जयन्ती के अवसर पर ही सागर समाज के सहयोग से ग्रीष्मकालीन आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगाने के निश्चय की घोषणा की गई। परिणामस्वरूप यह शिविर सागर में लग रहा है।

इस समय हमारे साथ पण्डित पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर भी थे। इस शिविर के लगने में उनका सर्वाधिक श्रम रहा है। वैसे तो उनसे मेरा परिचय विगत् २५ वर्ष से है, तथापि उनकी कार्यकुशलता एवं क्षमता का परिचय मुझे इस अवसर पर ही प्राप्त हुआ। आदरणीय नेमीचन्दजी पाटनी के साथ

काम करने का अवसर तो मुझे विगत् १८ वर्ष से प्राप्त है, मैं उनकी कार्यक्षमता का कायल रहा हूँ, पर मुझे प्रतीति होता है कि छाबड़ाजी उनके बहुत अच्छे सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की अनेक उपलब्धियों में से एक अभूतपूर्व अद्‌भुत उपलब्धि है, जिसके माध्यम से जैनधर्म-शिक्षा जगत में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है, अनेक नये कीर्तिमान स्थापित हुए हैं।

सागर में लगनेवाला यह शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर उन्नीसवाँ है, इसके पूर्व अठारह प्रशिक्षण शिविर भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न नगरों में लग चुके हैं, जिनमें ३१३५ अध्यापक धार्मिक-अध्ययन कराने में प्रशिक्षित हो चुके हैं। जयपुर में दो; कोटा, उदयपुर, अजमेर एवं भीलवाड़ा में एक-एक; इसप्रकार राजस्थान में छह; विदिशा में दो, इन्दौर, छिन्दवाड़ा, भिण्ड में एक-एक; इसप्रकार मध्यप्रदेश में पाँच; आगरा, ललितपुर एवं फिरोजाबाद में एक-एक; इसप्रकार उत्तरप्रदेश में तीन; सोलापुर, मलकापुर एवं वाशिम में एक-एक; इसप्रकार महाराष्ट्र में तीन एवं प्रान्तिज (गुजरात) में एक; इसप्रकार कुल १८ शिविर अब तक लग चुके हैं।

इनमें से जयपुर, कोटा एवं उदयपुर शिविरों को गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का सान्निध्य भी प्राप्त रहा है। साथ में विद्वद्वर्य श्री खीमचन्दभाई एवं श्री बाबूभाई जबतक स्वस्थ रहे, तबतक उनका समागम प्रत्येक शिविर को अनिवार्य रूप से मिलता रहा है। आदरणीय विद्वद्वर्य श्री लालचन्दभाई, राजकोट एवं श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा का समागम तो अब भी प्रत्येक शिविर को लगभग प्राप्त ही रहता है। इनके अतिरिक्त मेरे अग्रज पण्डित रतनचन्दजी शास्त्री एवं पण्डित ज्ञानचन्दजी भी इसके स्थायी सदस्य हैं। श्री नेमीचन्दजी पाटनी इसके सूत्रधार हैं, उनके बिना इसकी कल्पना भी संभव नहीं रहती।

इनके अतिरिक्त लगभग और भी २५ व्यक्ति बीस दिन तक लगातार शिक्षणकार्य में सहयोग देते हैं, जब कहीं यह शिविर अपनी अपूर्व उपलब्धियों के साथ सम्पन्न होता है। स्थानीय लोगों के श्रम की तो गणना ही संभव नहीं है; क्योंकि उन्हें तो महीनों पहिले ही इसमें जुटना पड़ता है।

इसके वास्तविक स्वरूप का सम्यग्ज्ञान तो इसके प्रत्यक्षदर्शन करने से ही संभव है।

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं उसके सहयोग से जयपुर से संचालित तत्त्वप्रचार संबंधी सभी गतिविधियों को बल प्रदान करनेवाले इन श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों के जन्म की भी एक कहानी है।

यह तो आपको विदित ही है कि कोमलमति बालकों में धार्मिक संस्कार डालने, उन्हें जैनतत्त्व संबंधी सामान्य ज्ञान देने एवं सदाचार युक्त नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने के पावन उद्देश्य से पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने अपने उदय के साथ ही सर्वप्रथम सरल, सुबोध एवं सहजबोधगम्य रोचक धार्मिक पाठ्यपुस्तकें तैयार कराई; और उनके अध्ययन-अध्यापन के लिए स्थान-स्थान पर वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ स्थापित की तथा उनकी परीक्षा लेने के लिए श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की भी स्थापना की।

पाठशालाओं के सतत निरीक्षण एवं परीक्षार्थी छात्रों की उत्तर-पुस्तिकाओं को देखकर लगा कि जबतक अध्यापक बन्धुओं को धार्मिक पुस्तकों के अध्यापन की विधि में आधुनिक रीति से प्रशिक्षित नहीं किया जायगा, तबतक वाँछित उद्देश्य की प्राप्ति संभव नहीं है; क्योंकि अप्रशिक्षित और अयोग्य अध्यापक न तो छात्रों को सही ज्ञान ही दे सकते हैं और न वह आकर्षण ही पैदा कर सकते हैं, जिससे प्रेरित होकर छात्र धर्माध्ययन में रुचिवन्त हों। आज दुनियाँ बहुत आगे बढ़ गयी है। ऐसी स्थिति में धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में वही पुराना रवैया कैसे अपनाया जा सकता है ?

गहराई से अनुभव किया गया कि वर्णीजी द्वारा संचालित धार्मिक शिक्षा की क्रान्ति में शिथिलता का एकमात्र कारण प्रशिक्षित सुयोग्य अध्यापकों का अभाव ही है। यदि हमें धार्मिक शिक्षा के महा कार्य को गति प्रदान करना है तो इस दिशा में गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए।

अनेक दृष्टिकोणों से गम्भीरता से विचार-विमर्श करने के उपरान्त आगामी पीढ़ी में जैन तत्वज्ञान अपने मूल रूप में सुरक्षित रहे तथा धार्मिक संस्कार भी

कायम रहे — इस पावन भावना से योग्य अध्यापकों को प्रशिक्षित करने का संकल्प किया गया, जो इन प्रशिक्षण शिविरों के रूप में प्रतिफलित हुआ है।

जब हमने इन्हें आरम्भ किया था, तब हमें भी यह कल्पना न थी कि ये शिविर इतने उपयोगी सिद्ध होंगे। सीमित उद्देश्य से आरम्भ किये गये इन शिविरों ने शीघ्र ही बहुउद्देशीय (multipurpose) रूप धारण कर लिया। इनमें आज मात्र धार्मिक अध्यापकों को प्रशिक्षित ही नहीं किया जाता, अपितु बालशिक्षा, प्रौढ़शिक्षा, महिलाशिक्षा के साथ-साथ प्रवचनों के माध्यम से जनसमुदाय-शिक्षण (mass teaching) भी चलता है।

इसप्रकार इसमें दस वर्ष के बालक-बालिका से लेकर अस्सी वर्षीय वृद्ध आत्मार्थी भी लगातार बीस दिन तक अनवरत भाग लेते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल ५ बजे से लेकर रात्रि १०.३० तक ८-१० घण्टे के सघन कार्यक्रम चलते हैं। आध्यात्मिक शिक्षा का इसप्रकार का वातावरण बन जाता है कि लोग समाचारपत्र पढ़ना भी भूल जाते हैं और लोगों को दिनांक और वार भी याद नहीं रहते।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस स्थान पर यह शिविर लगता है, उसके आस-पास २५-३० नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालायें तो खुल ही जाती हैं। आज जो सम्पूर्ण देश में ३५३ पाठशालायें चल रही हैं, वे सब इन प्रशिक्षण शिविरों का ही परिणाम है। आज जब छात्रों के अभाव में धार्मिक शिक्षा देने वाले महाविद्यालय बन्द होते जा रहे हैं या मृतप्रायः हो रहे हैं, तब इन शिविरों की बदौलत ही श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में छात्रों के प्रवेश के लिये भीड़ उमड़ती है और वह चुन-चुनकर सीमित छात्रों को प्रवेश देता है। चालीस से पचास हजार तक का सत्साहित्य जन-जन तक पहुँच जाता है तथा इतने के ही धार्मिक प्रवचनों के कैसेट भी बिकते हैं। आध्यात्मिक पत्रिका वीतराग-विज्ञान एवं समाचारपत्र जैनपथ प्रदर्शक के भी सैकड़ों ग्राहक इस अवसर पर बनते हैं। आस-पास के स्थानों में दैनिक शास्त्रसभायें एवं तत्वगोष्ठियाँ आरम्भ हो जाती हैं। — इसप्रकार सामूहिक रूप से धार्मिक वातावरण का निर्माण होता है।

इन शिविरों की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हमारे इन शिविरों से प्रेरणा पाकर अन्य संस्थायें भी शिविर आयोजित करने लगी हैं। इस बात की हमें हार्दिक प्रसन्नता है, क्योंकि यह काम इतना बड़ा है कि इसमें जितने भी लोग जुट जायें, उतने ही कम हैं। सबकुछ मिलाकर सभी लोग वीतरागी वाणी का ही तो प्रचार-प्रसार करते हैं।

णमोंकार मंत्र कोई भी सिखाये — इससे क्या अन्तर पड़ता है ? भाई, हम सब को मिलकर अज्ञान के विरुद्ध लड़ना है, असंयम के विरुद्ध लड़ना है, दुराचार के विरुद्ध लड़ना है। जो भी धार्मिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले लोग हैं, उन्हें परस्पर में लड़ने के स्थान पर मिलकर अज्ञान से, अशिक्षा से लड़ना चाहिये। इसमें ही समाज का भला है, संस्थाओं का भला है, धर्म का भला है और व्यक्तियों का भी भला इसी में है।

आश्चर्य इस बात का है कि हमारे प्रशिक्षण-शिविरों की लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए कुछ लोग अपने सामान्य शिविरों का नाम भी प्रशिक्षण शिविर रख लेते हैं, जब कि उनमें प्रशिक्षण (Training) नाम की कोई चीज ही नहीं होती। यद्यपि हमें उनकी प्रवृत्ति से कोई विरोध नहीं है, तथापि इससे प्रशिक्षण शब्द की सार्थकता तो समाप्त होती ही है।

इसका एक कारण भी यह है कि वे लोग हमारे शिवरों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर उसे देखने आते हैं और दो-एक दिन ठहरकर उद्घाटनादि उत्सवों एवं प्रवचनादि कार्यक्रमों को देखकर चले जाते हैं। उसमें जो शिक्षण-प्रशिक्षण के सघन कार्यक्रम चलते हैं, उन्होंने गहराई से नहीं देखते। अत: वे यही समझते हैं कि शिविरों में अकेले प्रवचन होते हैं।

यह भी हो सकता है कि वे हमारे शिविर की सम्पूर्ण गतिविधियों से परिचित तो हों, पर अत्यधिक श्रमसाध्य होने से अथवा उन्हें चलाने योग्य सुयोग्य कार्यकर्ताओं के अभाव होने से यह सब संभव न हो पाता हो।

जो कुछ भी हो, हम उन्हें अपने सम्पूर्ण कार्यक्रमों को बारीकी से निरीक्षण करने के लिये सादर, सस्नेह, सानुरोध आमंत्रित करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यदि वे भी इसप्रकार के शिविरादि कार्यक्रम संचालित करने में

हमारा सहयोग चाहेंगे तो हम उन्हें अपनी सीमाओं में रहकर अवश्य सहयोग करेंगे।

भाई, आज की दुनिया संघर्ष की नहीं, सहयोग की दुनिया है। जब एक देश दूसरे देश के विकास में तकनीकी, आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी प्रकार का सहयोग करते देखे जाते हैं तो क्या धर्म के क्षेत्र में यह संभव नहीं है। यदि हमने समय को नहीं पहिचाना, युग की आवाज की अनसुनी कर दी तो समय हमें कभी क्षमा नहीं करेगा। जो युग की आवाज को समय की पुकार को सुनता है, उसके अनुसार चलता है, समय उसका ही साथ देता है।

आशा ही नहीं, हमें पूर्ण विश्वास है कि धार्मिक समाज पवित्र हृदय से किये गये हमारे इस अनुरोध को पवित्र हृदय से ही गृहण करेगा।

हमें प्रसन्नता है कि धार्मिक शिक्षा की इस युग में नींव डालने वाले वर्णीजी के इस शिक्षानगर सागर में ही धार्मिक शिक्षा को गति प्रदान करने वाला हमारा यह उन्नीसवाँ शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लग रहा है। ध्यान रहे, बुन्देलखण्ड की पावन भूमि में यह शिविर ललितपुर में सन् १९७६ में लगे शिविर के नौ वर्ष बाद लग रहा है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य की जिस भाव-भूमि में यह शिविर लग रहा है, उससे इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है। कई दृष्टियों से यह शिविर ऐतिहासिक शिविर हो सकता है।

इस शिविर की भावभूमि में एक और भी सहज संयोग बन रहा है। सागर के अत्यन्त निकट खुरई में इसी समय आचार्य श्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में 'धवला' की वाचना का कार्यक्रम होने जा रहा है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि वाचना में पधारे विद्वानों का लाभ शिविर को तथा शिविरार्थियों को आगे-पीछे थोड़ा-बहुत वाचना का लाभ भी प्राप्त हो सकेगा।

पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का आशीर्वाद हमारी सम्पूर्ण गतिविधियों को आरंभ से ही प्राप्त होता रहा है, पर गर्मियों में लगने के कारण वे आज तक हमारे इस शिविर में नहीं पधार सके। अब उनके समागम एवं मार्गदर्शन का लाभ भी हमें प्राप्त होगा; क्योंकि वे जब खुरई में पधारेंगे तो

अत्यन्त निकट होने से हमारे इस शिविर में भी अवश्य पधारेंगे। इसीप्रकार स्थानीय विद्वान होने से डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य का समागम भी सहज प्राप्त होगा। वयोवृद्ध व्रती विद्वान पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी एवं सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्दजी तो हमारे शिविरों में कई बार पधार चुके हैं।

हमारे शिविर में दिगम्बर जैन महासमिति के संस्थापक अध्यक्ष स्व. श्री साहू शान्तिप्रसादजी और वर्तमान अध्यक्ष श्री साहू श्रेयांशप्रसादजी, कार्याध्यक्ष श्री रतनलालजी गंगवाल, महामन्त्री श्री सुकुमारचन्दजी, दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री लालचन्दजी, महामन्त्री श्री जयचन्दजी लोहाड़े तथा श्री एम. के. गाँधी लन्दन, श्री ऋषभकुमारजी खुरई, सि. धन्यकुमारजी कटनी आदि अनेक बार पधारकर हमारी शिक्षण पद्धति की भरपूर सराहना कर चुके हैं; समाज के सभी वर्गों का सहयोग हमारे शिविरों को प्राप्त रहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारा यह शिविर एक ऐतिहासिक शिविर होगा और इसका लाभ हमारी आगामी पीढ़ियों को भी भरपूर प्राप्त रहेगा।

मेरी जन्मभूमि के निकट लगनेवाला यह शिविर वीतरागी तत्त्वज्ञान एवं सदाचारी जीवन की गहरी नींव डालनेवाला प्रमाणित हो — ऐसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

एक बात और भी तो है कि सुखी होने का सही रास्ता सत्य पाना है, सत्य समझना है। किसी का भंडाफोड़ करना नहीं, किसी की पोल खोलना नहीं। यदि इस एक साधु की पोल खोल भी दी तो क्या हो जाने वाला है, न जाने लोक में ऐसे कितने लोग हैं? तुम कहाँ-कहाँ पहुँचोगी, किस-किस को बचाओगी? सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप समझना ही कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र से बचने का सच्चा उपाय है।

सामान्यतः देव-गुरु-धर्म का विरोध करना भी तो ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो सच्चे देव-गुरु-धर्म का भी निषेध हो सकता है। अतः शास्त्राधार से इनका सही स्वरूप समझने का यत्न करना चाहिए।

सत्य की खोज, पृष्ठ ६३

१३

एक ही रास्ता

(वीतराग-विज्ञान जून १९८५ में से)

"मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की" — किसी भुक्तभोगी की उक्त उक्ति का मर्म तबतक समझ में नहीं आता, जबतक कि इसीप्रकार की परिस्थितियों से व्यक्ति स्वयं नहीं गुजरता। आगम के सम्मान एवं सामाजिक एकता की अनदेखी करने वाले लोग जब घर-फूँक तमाशा देखने पर उतारू हो जाते हैं तो अड़ोसी-पड़ौसी भी उस आग में स्वार्थ की रोटियाँ सेकने लगते हैं। केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए मौके की तलाश में बैठे असामाजिक तत्त्व जब उस आग को बुझाने के बहाने पानी के नाम पर जलते हुए सामाजिक ढांचे पर पेट्रोल डालने लगते हैं, तब समझदार लोगों के पास आत्मशुद्धि के लिए प्रभु से प्रार्थना एवं आत्माराधना के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता है।

समाज के प्रबुद्धवर्ग का कार्य गहराई में जाकर वस्तुस्थिति का गहरा अध्ययन करके यथासाध्य सम्यक् मार्गदर्शन करना है, पर जब प्रबुद्धवर्ग भी अपने इस उत्तरदायित्व से विमुख होने लगे और समाज में उत्तेजना फैलाने का घृणित कार्य करने लगे तो समझना चाहिए कि अब समाज के बुरे दिन आने वाले हैं।

ऐसी स्थिति में चित्त का संतुलन बनाए रखना यद्यपि अत्यन्त कठिन कार्य है, तथापि सन्तुलन खोकर सर्व विनाश की ओर बढ़ना बुद्धिमत्ता तो नहीं माना जा सकता।

यद्यपि जलती हुई द्वारका देखकर भी श्री नेमिनाथ के समान, सहज ज्ञातादृष्टा बने रहना ही अध्यात्म की चरम उपलब्धि है; तथापि जिस

भूमिका में हम और आप विद्यमान हैं, उसमें यह सब संभव नहीं है, उचित भी नहीं है, आवश्यक भी नहीं है।

हमारे ही साथियों की अपरिमित हठधर्मी से जो स्थिति आज पैदा हो गई है, उससे आज सम्पूर्ण समाज उद्वेलित है, आन्दोलित है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की इस पीड़ा से आज कोई भी अपरिचित नहीं है। हमारी स्थिति तो और भी अधिक गंभीर है; क्योंकि इस घटनाचक्र के सम्पूर्णत: अकर्त्ता होने पर भी हमें इस तूफान का केन्द्रबिन्दु-सा बना दिया गया है। जिन्हें आगम के आधार, सामाजिक एकता एवं पूज्य श्री कानजी स्वामी की पावन प्रतिष्ठा की कोई चिन्ता नहीं है; वे लोग समग्र समाज की सहानुभूति एवं स्नेह खोकर भी अपने में ही मग्न है एवं विजयी मुद्रा में जो कुछ भी मन में आ रहा है, बिना सोचे-समझे निरन्तर किये जा रहे हैं और स्वामीजी के व्यक्तित्व से ईर्ष्या करने वाले लोगों को निरन्तर ऐसी निराधार सामग्री प्रदान कर रहे हैं कि जिससे उन्हें उत्तेजना फैलाने में भरपूर मदद मिल रही है।

ऐसी स्थिति में इस उत्तेजित वातावरण में जगत से दृष्टि हटाकर अपने कार्य में ही मग्न हो जाने के हमारे सम्पूर्ण संकल्प एवं निश्चय डगमगा रहे हैं। चारों ओर से हमारे पास अपनी स्थिति स्पष्ट कर देने के लिए आग्रह, अनुरोध आ रहे हैं। पर भाई साहब! हमारी स्थिति तो स्पष्ट ही है। इस समय घटनाचक्र से परिचित ऐसा कौन व्यक्ति है जो हमारी स्थिति एवं विचारों से अपिरचित है? वस्तुत: बात स्थिति स्पष्ट करने की नहीं, समाज चाहता है कि हम इस दिशा में सम्पूर्णत: सक्रिय हों।

पर भाई, हम क्या करें? क्या आप यह समझते हैं कि बात यहाँ तक न पहुँचे — इसके लिए हमने कोई कम प्रयत्न किए हैं; पर जब कोई आत्मघात करने पर ही उतारू हो जाय तो हम क्या कर सकते थे? बहुत भाई कहते हैं कि हमारे **साथियों को त्याग-पत्र नहीं देना चाहिए था, हमें अदालत में जाना चाहिए था, सत्याग्रह करना चाहिए था। पर भाई साहब! हमने अपना जीवन अध्यात्म के लिए समर्पित किया है, झगड़ा-झंझटों के लिए नहीं।**

दूसरी बात यह भी तो है कि जब हम इसके लिए संघर्ष कर रहे थे, तब लोग कहते थे कि हम सत्ता एवं पैसे के लिए लड़ रहे हैं। कुछ लोग तो आज भी यह रट लगा रहे हैं, जब कि हम वहाँ की समस्त गतिविधियों से एकदम ही अलग हो गए हैं।

मेरे हाथ में अभी एक लम्बा-चौड़ा प्रिंटेड पैम्पलेट है, जिसमें लिखा है कि **"श्री भारिल्लजी के लिए यह लड़ाई पद, कुर्सी व पैसे के लिए चम्पाबहिन से है"**, पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि न तो बहिनश्री को ही पद, कुर्सी और पैसा चाहिए और न हमें, यह सब तो हमारे पक्ष के त्यागपत्र दे देने से ही स्पष्ट है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ मनमानी करने वाले सत्तालोलुपी लोग स्वामीजी के प्रताप से बने नये दिगम्बरों में बहिनश्री की अपरिमित प्रतिष्ठा का अनुचित लाभ अवश्य उठा रहे हैं।

संघर्ष का आरंभ "धन्यावतार" से आरंभ हुआ और सूर्यकीर्ति-प्रकरण में चरम बिन्दु पर पहुँच गया। दोनों ही प्रकरणों में हमने पूरी शक्ति लगाकर रोकने का प्रयत्न किया और न रुकने पर समाज के सामने समय रहते सब-कुछ स्पष्ट कर दिया। इन दोनों के बीच की भी छोटी-बड़ी बहुत सी बातें हैं, जिनकी चर्चा न तो आवश्यक ही है और न हमें अभीष्ट ही है।

स्वामीजी का जीवन भर विरोध करने वाले एक विद्वान हमसे बोले — "डॉ. साहब, कृपा कर धन्यावतार जैसी दो-चार पुस्तिकाएँ और निकलवा दीजिए तो हमारा काम सरल हो जाय।"

हमने गंभीरता से उनसे कहा —

"आप, क्या कार्य सरल करना चाहते हैं ? पूज्य स्वामीजी तो गए, उनका तो भला बुरा अब कुछ होना नहीं है। उनके प्रताप से जो हजारों भाई दिगम्बर जैन बने हैं, क्या उन्हें आप अपने से अलग होने को बाध्य कर देना चाहते हैं ?

हमारे मन्दिरों में माली काम करते हैं। सात-सात पीढ़ी से वे हमारे मन्दिरों की सेवा करते आ रहे हैं, पर आजतक हम एक माली को भी जैन नहीं बना सके हैं और स्वामीजी के प्रताप से हजारों पक्के दिगम्बर जैन बन गए हैं।

यदि हम किसी को नया जैन नहीं बना सकते तो कम से कम उन्हें तो दिगम्बर जैन बना रहने दें, जो स्वामीजी के प्रताप से बने हैं।"

उन्होंने हमारी बात को गंभीरता से सुना ही नहीं, सहमति भी व्यक्त की। बाद में बोले —

"आपकी बात तो वे लोग मानते हैं, आप उन्हें समझाते क्यों नहीं, ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन से आप उन्हें रोकते क्यों नहीं ?"

हमने कहा — "भाई, क्या बतायें ? हम तो अपनी शक्ति अनुसार सब करते हैं, पर जो संभव होता है, वही हो पाता है।"

सूर्यकीर्ति-प्रकरण में महासमिति ने जिस धैर्य से काम किया है, उसकी जितनी सराहना की जावे, उतनी ही कम है। महासमिति के अध्यक्ष श्री साहू श्रेयांसप्रसादजी एवं कार्याध्यक्ष श्री रतनलालजी गंगवाल ने इसमें पूरी तत्परता, बुद्धिमानी एवं धैर्य से काम किया है, किसी भी स्थिति में अपना सन्तुलन नहीं खोया, यह हमारी समाज के लिए गौरब की बात है। यदि समाज के सर्वोच्च पदों पर आसीन लोग ही सन्तुलन खो बैठें तो फिर समाज का क्या होगा ? — यह समझने की बात है।

खेद की बात तो यह है कि महासमिति के शिष्टमण्डल को सोनगढ़ से खाली हाथ लौटना पड़ा। मैं निश्चितरूप से कह सकता हूँ कि यदि पूज्य स्वामीजी होते तो यह शिष्टमण्डल कभी भी खाली हाथ नहीं लौटता। पर भाई, असली बात तो यह है कि शिष्टमण्डल को जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि स्वामीजी के माध्यम से यह कार्य तो हम ही निपटा लेते अथवा स्वामीजी की उपस्थिति में इसप्रकार का अदूरदर्शी कार्य आरंभ ही नहीं होता।

ऐसी स्थिति में भी महासमिति ने किसी भी प्रकार की मर्यादा को भंग नहीं किया यह उनकी महानता एवं सदाशयता को सूचित करता है।

महासभा के कर्णधार एक ऐसे व्यक्ति के कथन के आधार पर जो मूलतः अजैन है, जिनका संपूर्ण परिवार आज भी अजैन है, कुछ ऐसी बेसिर-पैर की बातों का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, जिनसे सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज का ही

अहित होने वाला है। जब कोई अजैन व्यक्ति जैनधर्म में रस लेने लगता है, तो उसे जैन समाज का वात्सल्य सहज ही प्राप्त हो जाता है। उसे जन्मजात जैनों से अधिक मान-सम्मान मिलने लगता है। इस स्थिति और वर्तमान परिस्थिति का लाभ उठाकर वे अजैन बन्धु आज सोनगढ़ की रीति-नीति के प्रवक्ता बन बैठे हैं।

वे न तो पूर्णत: दिगम्बर परम्पराओं से ही परिचित हैं और न श्वेताम्बर परम्पराओं से ही। वे जैन परम्परा से ही परिचित नहीं है तो फिर दिगम्बर श्वेताम्बर परम्पराओं से परिचित होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

आदरणीय साहूजी एवं उनके साथ गये शिष्टमण्डल से भी उन अजैन बन्धु ने इसीप्रकार की पृथक्तावादी बातें की थीं; पर उन्होंने उनकी बातों को कोई महत्त्व नहीं दिया, पर महासभा के कर्णधार उन्हें तूल देकर न मालूम क्या करना चाहते हैं ? — यह सब हमारी समझ से परे है। महासभा वाले धर्मबन्धु उनके अविश्वसनीय कथनों का निरन्तर प्रचार-प्रसार कर रहे हैं एवं उनके आधार पर उनके बहिष्कार की चर्चा भी बड़े जोर-शोर से चला रहे हैं। वे पृथक् होना चाहते हैं और ये पृथक् करना चाहते हैं। यदि समाज में इन्हीं लोगों की चली तो क्या होगा ? — यह सहज ही समझा जा सकता है।

क्या समाज का हित इसी में है ? समाज को गंभीरता से इस बात पर विचार करना चाहिए।

महासभा वालों की उदारता की चर्चा हम कहाँ तक करें ? अतिथियों को खाली हाथ वापिस भेजना, उन्हें अभीष्ट नहीं है। अत: वे हम लोगों को भी समाज से निकाल कर उनके साथ भेजना चाहते हैं। स्वामीजी ने श्वेताम्बरों को दिगम्बर बनाया और ये लोग मूल दिगम्बरों को भी श्वेताम्बर बनाने पर तुले हुए हैं। समाज में निरन्तर कह रहे हैं कि सोनगढ़ वालों के साथ जयपुर वालों को भी मन्दिरों में न घुसने दिया जाय। क्या वे जानते हैं कि जिस सूर्यकीर्ति-प्रकरण से आपको विरोध है, उस प्रकरण को हजारों नये दिगम्बरों का भी समर्थन प्राप्त नहीं है। पूज्य श्री कानजी स्वामी की प्रेरणा से निर्मित अनेक जिन

मन्दिरों में भी ऐड़ी-चोटी का पसीना लगाने के बाद भी वह मूर्ति स्थापित नहीं हो सकी है। जो सूर्यकीर्ति-प्रकरण उत्तेजना का मूल कारण है, उस सूर्यकीर्ति-प्रतिष्ठा से जो लोग सम्मत नहीं है, उसके विरुद्ध अपने तरीके से संघर्ष भी कर रहे हैं, उनके विरुद्ध कुछ भी कहने या करने का क्या औचित्य है — यह हमारी समझ से परे है।

बिना सोचे-समझे कुछ भी लिखते-बोलते रहने से दिगम्बर समाज की कितनी हानि है ? — क्या इसकी कल्पना भी उन्हें नहीं है ?

इस नाजुक स्थिति का लाभ उठाकर कुछ लोग पावन जिनवाणी को मन्दिरों से हटाने एवं जलप्रवाह करने की बातें करने लगे हैं, इसके लिए समाज को उकसाने भी लगे हैं। पहले भी इसप्रकार के प्रयास किए गए थे, पर वे सफल नहीं हुए, आगे भी इसप्रकार के कार्यों का यही हाल होनेवाला है। **क्या समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक को मात्र इसी आधार पर बहिष्कृत किया जा सकता है कि वे सोनगढ़ या जयपुर से प्रकाशित हुए है ? क्या इसमें आचार्य कुन्दकुन्द और पंडित टोडरमलजी का अपमान नहीं होगा ? कल तक जो जिनवाणी थी, मन्दिरों में पढ़ी ही नहीं, पूजी जाती थी, क्या वह कुछ अविवेकियों के अविवेकपूर्ण कार्यों से आज तिरस्कार योग्य हो गई ? शास्त्रों का तिरस्कार कर नरकनिगोद जाने का महापाप किसी के बहकाने से धर्मभीरू समाज कभी करने वाली नहीं है। "धर्म के दशलक्षण" एवं "जिनवरस्य नयचक्रम्" जैसी सर्वमान्य कृतियाँ, जिनकी प्रशंसा मुनिराजों ने भी की है, विरोधी विद्वानों ने भी दिल खोलकर की है, जो आज जन-जन की वस्तु बन गई हैं, उन्हें निकाल पाना क्या आज किसी के वश की बात है ?** मान लो, लोग इसमें सफल भी हो गए तो इससे उन्हें क्या दण्ड मिलनेवाला है, जिन्होंने यह अनर्थ किया है ? हम आपस में ही लड़ मरेंगे, जिसका भरपूर लाभ उन्हें ही प्राप्त होगा। वे तो यही चाहते हैं कि हम आपस में लड़ मरें और वे दूर बैठे-बैठे तमाशा देखते रहें।

कुछ असामाजिक तत्त्व मन्दिरों में सोनगढ़ साहित्य न रखने के बोर्ड अधिकारियों की अनुमति एवं जानकारी बिना लगा रहे हैं। आपको जानकर

आश्चर्य होगा कि श्री टोडरमल स्मारक भवन के मन्दिर पर भी कोई ऐसा कागजी बोर्ड लगा गया । क्या होनेवाला है — इस सबसे ?' जहाँ लाखों रुपयों का वहीं साहित्य रखा हो, जहाँ से सारे देश में वह साहित्य जा रहा हो, वहाँ लगा यह कागजी बोर्ड स्वयं ही हास्यास्पद नहीं लगता है क्या ? कई स्थानों पर पता करने पर, पता चला है कि वहाँ भी वैसे ही बिना अनुमति एवं जानकारी के कागजी बोर्ड लगा दिए हैं। इससे पता चलता है कि लगभग सभी जगह यही स्थिति है — ऐसे कागजी घोड़े दौड़ाने से क्या होनेवाला है, सिवाय वातावरण विक्षुब्ध होने के ?

हमारी स्थिति आज बड़ी ही विचित्र हो रही है। सोनगढ़ वाले कहते हैं कि जो भी विरोध हो रहा है, वह सब हम ही करा रहे हैं, शेष समाज को कुछ पड़ी ही नहीं है। विरोध करनेवाले भी निरन्तर आरोप लगा रहे हैं कि हम सोनगढ़ वालों से मिले हुए हैं, इसीकारण डटकर विरोध नहीं कर रहे हैं।

हम सच्चे हृदय से दोनों को बता देना चाहते हैं कि हम दूसरों के कंधों से गोली चलाना नहीं जानते, न कभी चलाने का प्रयास ही करते हैं। हमें जो कुछ भी कहना होता है, या करना होता है; सब एकदम स्पष्ट कहते हैं, खुलकर करते हैं। इस सन्दर्भ में भी हमने जो किया है, वह खुलकर किया है, इससे अधिक न हम कुछ कर सकते हैं, न करना चाहते हैं।

सूर्यकीर्ति की प्रतिमा की प्रतिष्ठा के नाम पर आगम के आधार बिना जो भी हुआ है, हम उसे रंचमात्र भी उचित नहीं मानते, पर पूज्य स्वामीजी का इसमें कोई योग नहीं है, क्योंकि भोगीभाई द्वारा इसप्रकार की चर्चा आने पर उन्होंने बड़ी ही दृढ़ता से इसका निषेध कर दिया था। इस बात को श्री नेमीचंदजी पाटनी जैनपथ प्रदर्शक में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। यह बात भी समझ लीजिए कि हम उनके सच्चे अनुयायी हैं। हमने उनसे वीतरागी तत्त्व पाया है, क्रमबद्धपर्याय का पाठ पढ़ा है, उनकी उपेक्षा हमसे संभव नहीं है, उनका अपमान हमें बर्दाश्त नहीं है और न कभी होगा ही।

स्वामीजी के देहावासान के बाद सोनगढ़ में हुए गलत कार्यों में हमारी रंचमात्र भी अनुमोदना नहीं है और न हम उनके प्रति रंचमात्र भी जिम्मेदार हैं।

वर्तमान क्षुब्ध वातावरण देखकर मुमुक्षु भाइयों में भी घबड़ाहट है, वे भी इस असमंजस में हैं कि इस स्थिति में हम क्या करें, क्या न करें ? हमसे वात्सल्य और अपेक्षा रखनेवाले आत्मार्थी मुमुक्षुभाई भी हमारी ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं कि वर्तमान स्थिति में हम क्या करते हैं, कौन सा रास्ता चुनते हैं ?

ऐसी स्थिति में बहुत-कुछ चाहने पर भी चुप रहना संभव नहीं हो पा रहा है। सागर शिविर के बाद लगभग डेढ़ माह के लिए धर्मप्रचारार्थ विदेश भी जाना है। अत: इस समय संपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करना अति आवश्यक हो गया है।

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण के उपरान्त मूल प्रश्न तो खड़ा ही है कि यदि विघटनवादियों के मंसूबे सफल हो गये और समाज में स्थान-स्थान पर संघर्ष उत्पन्न हो गया तो हम क्या करेंगे और हमें क्या करना चाहिए ?

भाई, मेरा विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा, दो-एक छुटपुट घटनाओं को छोड़कर विशाल स्तर पर शान्तिप्रिय अहिंसक समाज ऐसा कभी नहीं होने देगी। दिगम्बर जैन समाज में एकता और शान्ति कायम रहे यह दिगम्बर जैन महासमिति का दायित्व है और वह अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सजग भी है। इसलिए चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

हमारे पवित्र हृदय से किए गये इस अनुरोध को सम्पूर्ण समाज पवित्र हृदय से ही ग्रहण करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है; फिर भी यदि कुछ हुआ तो हमारे पास एक ही रास्ता शेष रह जाता है कि हम महात्मा गाँधी के बताये रास्ते पर चलकर आत्मशुद्धि के लिए सामूहिक उपवास करें, गाँव-गाँव में शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ करें।

मुझे विश्वास है कि सच्चे हृदय से की गई हमारी प्रार्थनाएँ एवं आत्मशुद्धि के लिए किए गये हमारे सामूहिक उपवास व्यर्थ न जायेंगे। आत्मशुद्धि की कमी के कारण सच्चे हृदय से भी दी गई आवाज में वह शक्ति नहीं होती कि जिसे सभी लोग सुन सकें, स्वीकार कर सकें। जब हम उपवास द्वारा आत्मशुद्धि प्राप्त कर निष्कषायभाव से शान्ति के लिए अपनी आवाज बुलन्द करेंगे तो वह आवाज अवश्य सुनी जावेगी, हमारी प्रार्थनाएँ और उपवास व्यर्थ न जावेंगे।

सम्पूर्ण देश और विदेश में रहनेवाले सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों को इस कार्य के लिए तैयार रहना चाहिए। हम अपने इस आन्दोलन की विस्तृत रूपरेखा व कार्यक्रम यथासमय सब तक पहुँचायेंगे। यदि कुछ लोगों पर हमारे इस पवित्र आह्वान का असर न भी पड़े, तब भी दुष्काल में हमारी प्रार्थनाएँ और उपवास हमारे चित्त को तो शान्त रखेंगे ही, जिससे प्रतिक्रिया में होनेवाली प्रतिहिंसा से तो हम बचे ही रहेंगे।

दो-चार शास्त्रों के जलाने या पानी में बहाने से हम समाप्त नहीं हो जावेंगे, हम उसके बदले में उनकी पुस्तकों को जलाने के स्थान पर हजारों प्रतियाँ और अधिक छपाने के प्रयास में लगेंगे। **यदि जिनवाणी के जलप्रवाह से हम अपने बन्धुओं को विरत करना चाहते हैं तो मात्र इस भावना से ही कि वे इस पाप के फल से बचे रहें; क्योंकि जिनवाणी तो हम और भी छपा लेंगे पर हमारे ही साधर्मी भाइयों को जो फल भोगना होगा, उसकी बात सोचकर हमारा हृदय काँप जाता है।**

अधिक क्या लिखूँ ? शीघ्रातिशीघ्र इन विकल्पों से विरत हो, आत्माराधना एवं जिनवाणी की सेवा में निर्विघ्न संलग्न हो जाऊँ — इस पावन भावना से विराम लेता हू। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः। ●

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है; और जहाँ अविवेक है वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है, पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है। यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है।

सत्य की खोज, पृष्ठ १९९

१४

जिनवाणी सुरक्षा एवं सामाजिक एकता आन्दोलन की संक्षिप्त रूपरेखा

(वीतराग-विज्ञान जुलाई १९८५ में से)

गतांक में "एक ही रास्ता" सम्पादकीय के माध्यम से हमने सूर्यकीर्ति-प्रकरण से उत्पन्न स्थिति की चर्चा विस्तार से की थी। उक्त सन्दर्भ में सागर (म.प्र.) में सम्पन्न श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर १ जून, १९८५ से ३ जून, १९८५ तक लगातार तीन दिन तक चले प्रवचनकार सम्मेलन में प्रतिदिन दो-दो घंटे गंभीरतम विचार-विमर्श हुआ।

एक सौ इक्कावन प्रवचनकार बन्धुओं एवं सहस्राधिक जनता की उपस्थिति में छह घंटे के गंभीरतम विचार-विमर्श के उपरान्त माँ जिनवाणी की सुरक्षा, आगम-विरुद्ध कार्यों के निषेध एवं सामाजिक एकता के लिए एक अहिंसात्मक जन-जागृति कार्यक्रम आरंभ करने का सर्वसम्मत महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया।

इस कार्यक्रम का नाम रखा गया है — "जिनवाणी सुरक्षा एवं सामाजिक एकता आन्दोलन"। इसके संचालन का कार्य "पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट" को सौंपा गया है। इसके संचालन के लिए एक संचालन समिति का भी सर्वसम्मत चयन किया गया है। इस पंच सदस्यीय संचालन समिति के सदस्य है — सर्वश्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा, नेमीचन्दजी पाटनी आगरा, डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल जयपुर, ब्र. यशपालजी जयपुर एवं ब्र. जतीशचन्दजी शास्त्री इन्दौर।

इस कार्यक्रम के सम्बन्ध में स्व. श्री बाबूभाईजी मेहता से भी रणासन शिविर के अवसर पर विचार-विमर्श हुआ था। उन्होंने स्वयं इसकी आवश्यकता अनुभव की थी और मुझे इसकी विस्तृत रूपरेखा बनाने का आदेश दिया था,

पर हमारा इतना भाग्य कहाँ था कि हमें इस कठिन घड़ी में उनकी छत्रछाया उपलब्ध रहती ? उनके मार्गदर्शन में हम सबने बड़े से बड़े संकट पार किए हैं। इस संक्रान्तिकाल में उनकी छत्रछाया समाप्त हो जाना हमारे लिए एक बड़ी चुनौती है, जिसे हमें हिम्मत के साथ स्वीकार करना है और पूरी निष्ठा के साथ अपने कर्तव्य को निभाना है।

जिनशासन की प्रभावना, जीवन्त तीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा एवं सामाजिक एकता के सन्दर्भ में उनकी सराहनीय सेवाओं एवं अभूतपूर्व उपलब्धियों का मूल्यांकन हम विशेषांक के माध्यम से स्वतंत्र रूप से करेंगे।

उनकी स्मृति में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने उनकी तृतीय मासिक पुण्यतिथि २२ अगस्त, १९८५ से २६ अगस्त, १९८५ तक एक पंचदिवसीय कार्यक्रम रखा है; जिसमें पूजन विधान के साथ-साथ प्रवचन आदि के कार्यक्रम भी रखे गए हैं।

इसी अवसर पर उनकी स्मृति में जैनपथ प्रदर्शक का एक विशेषांक भी प्रकाशित किया जावेगा। नवनिर्मित वीतराग-विज्ञान भवन का उद्घाटन भी इसी अवसर पर होगा। इस अवसर पर बाबू जुगलकिशोरजी "युगल" कोटा आदि सभी विद्वान पधारेंगे।

इसी अवसर पर पर्यूषण में भेजे जानेवाले विद्वानों की सूची को अन्तिम रूप प्रदान किया जावेगा और तबतक उत्पन्न सामाजिक स्थितियों के सन्दर्भ में "जिनवाणी सुरक्षा एवं सामाजिक एकता आन्दोलन" के आगामी कार्यक्रमों को भी अन्तिम रूप दिया जावेगा। इस सन्दर्भ में तबतक किए गये हमारे प्रयासों की स्थिति का भी मूल्यांकन किया जावेगा।

इस अवसर पर आवास एवं भोजन की सम्पूर्ण व्यवस्था निःशुल्क रहेगी। हमारा विश्वास है कि आ. विद्वद्वर्य बाबूभाई में श्रद्धा रखनेवाले, उनके अभाव में तत्त्वप्रचार-प्रसार की गतिविधियों को सुचारू रूप से संचालन में रुचि रखनेवाले एवं हमारे इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले आत्मार्थी बन्धु इस अवसर पर अधिक से अधिक संख्या में अवश्य पधारेंगे।

हमारे इस जिनवाणी सुरक्षा एवं सामाजिक एकता आन्दोलन के तीन चरण होंगे —

प्रथम चरण में हम इस शान्तिप्रिय आन्दोलन में भाग लेने वाले कम से कम दश हजार कार्यकर्ताओं के संकल्पपत्र प्राप्त करेंगे, जिसमें उन्हें यह संकल्प करना होगा कि हम देव-शास्त्र-गुरु की अवज्ञा न तो स्वयं करेंगे, न करायेंगे और न करनेवालों की अनुमोदन ही करेंगे। आगम के आधार बिना परम्पराविरुद्ध किए जानेवाले कार्यों, जिनवाणी की अवमानना एवं सामाजिक विघटन को रोकने के लिए शान्तिप्रिय अहिंसात्मक मार्ग ही अपनायेंगे।

दूसरे चरण में हम अपनी शान्ति-प्रार्थनाएँ आरंभ करेंगे; पर ध्यान रहे, ये शान्ति-प्रार्थनाएँ संचालित समिति के निर्देश बिना आरंभ नहीं करनी है। संचालन समिति जब आवश्यक समझेगी, तब सभी केन्द्रों को निर्देश देगी; निर्देश प्राप्त करने के पूर्व कहीं भी प्रार्थना सभायें नहीं करना है। प्रार्थना सभाएँ हम तभी आरंभ करेंगे, जब इसकी गहरी आवश्यकता अनुभव करेंगे।

इन प्रार्थना सभाओं में प्रातःकालीन प्रवचनोपरान्त सभी भाई खड़े होकर प्रथम महावीर वन्दना, फिर मेरी भावना और उसके बाद गद्य प्रार्थना बोलेंगे। प्रत्येक प्रार्थना सभा का एक मनोनीत संयोजक होगा, जो स्थानीय कार्यक्रम का संयोजन करेगा और संचालन समिति से सम्पर्क रखेगा, संचालन समिति के सभी निर्देश प्रार्थना सभा के सदस्यों तक पहुँचायेगा।

यदि एक नगर में अनेक स्थानों पर प्रार्थना सभायें होती हैं तो प्रत्येक प्रार्थना सभा के संयोजकों के अतिरिक्त एक नगर संयोजक भी होगा; जो सम्पूर्ण नगर की प्रार्थना सभाओं के संयोजन कार्य को देखेगा, व्यवस्थित करेगा।

इसीप्रकार आवश्यकतानुसार जिला, प्रान्त आदि के संयोजक भी बनाये जावेंगे।

एक स्थान पर सम्पन्न होनेवाली प्रत्येक प्रार्थना सभा का संयोजक एक ही होगा, पर मुख्य अतिथि प्रत्येक बार बदलते रहेंगे। संयोजक समाज के सुयोग्य, शान्तिप्रिय, प्रतिष्ठित महानुभावों से अपनी प्रार्थना सभा का मुख्य अतिथि बनने का अनुरोध करेंगे और उनसे उस दिन की प्रार्थना सभा का संचालन करावेंगे।

सभी महानुभाव पंक्तिबद्ध कई पंक्तियों में खड़े होंगे और संयोजक एवं मुख्य अतिथि उनके सामने खड़े होंगे। सभी लोग बायें हाथ पर पीली पट्टी बाँधे होंगे और सभी के पास प्रार्थना पुस्तिका होगी।

महावीर वन्दना और मेरी भावना का सभी लोग सामूहिक पाठ करेंगे और पुस्तिका में दूसरे पृष्ठ पर छपी गद्य प्रार्थना के एक-एक वाक्य को मुख्य अतिथि पहले बोलेंगे, उसके बाद उनके अनुकरण पर सभी लोग बोलेंगे।

प्रार्थना समाप्त होने पर लोग शान्त भाव से तबतक खड़े रहेंगे, जबतक कि प्रार्थना सभा में सम्मिलित लोगों की गणना नहीं हो जाती। गणना की विधि यह रहेगी — प्रत्येक पंक्ति का अन्तिम व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति को गिनते हुए प्रथम व्यक्ति तक आवेगा और उसे संख्या बता देगा; उसके बाद संयोजक प्रत्येक पंक्ति के प्रथम व्यक्ति के पास जाकर उनसे संख्या पूछकर डायरी में नोट करेगा। तत्काल सबका जोड़ लगाकर सबको बतायेगा कि आज की संख्या कितनी रही है ?

इसके बाद प्रार्थना सभा समाप्त होगी और सभी व्यक्ति पीली पट्टी बाँधे-बाँधे ही घर जावेंगे। प्रार्थना सभा की संख्या की जानकारी संयोजक उसी दिन की डाक से केन्द्रीय कार्यालय को भेज देंगे।

संयोजक इस बात का ध्यान रखेंगे कि पुरुषों की पंक्तियाँ अलग हों एवं महिलाओं की पंक्तियाँ अलग। प्रत्येक पंक्ति का प्रथम व अन्तिम व्यक्ति ऐसा हो, जो गणना को सही कर सके।

यदि आवश्यकता हुई तो हम सामूहिक उपवास के तृतीय चरण में प्रवेश करेंगे। तृतीय चरण में जहाँ तक संभव हो, जिनमंदिर में, अन्यथा स्वाध्यायभवन, धर्मशाला या सार्वजनिक स्थान पर एक दिन का उपवास करेंगे; जिसमें दिन भर सभी लोग निराहार रहेंगे, मात्र बालक, वृद्ध, बीमार और अशक्त लोग दवा और पानी ले सकते हैं। दिनभर पूजन, विधान, वैराग्यभावना-बारहभावना आदि का पाठ, स्वाध्याय एवं प्रवचन आदि कार्यों में ही संलग्न रहेंगे; कोई भी व्यक्ति उत्तेजनात्मक व्याख्यान नहीं देंगे, उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली चर्चा भी नहीं करेंगे। विकथा तो कोई करेगा ही नहीं, सभी तत्त्वचर्चा में ही संलग्न रहेंगे।

सम्पूर्ण कार्यक्रम में हाथ पर पीली पट्टी अवश्य बाँधे रहेंगे।

उन्होंने इसके लिए मात्र धनसंग्रह ही नहीं किया, अपितु इसके माध्यम से ऐसे महान कार्य सम्पन्न किए कि जिनसे आज सम्पूर्ण समाज गौरवान्वित है। उनके लगाए इस पौधे ने दश वर्ष के अल्प काल में एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है, जिसकी छाया में आज तीर्थ सुरक्षित हैं और जीवन्त तीर्थ जिनवाणी फल-फूल रही है।

वे अपनी इस कृति पर अपने आप ही मुग्ध थे। जब वे इस ट्रस्ट के महाविद्यालय से निकले अध्यात्मरुचि-सम्पन्न व्युत्पन्न विद्वानों को देखते-सुनते तो सब-कुछ भूल जाते। इसीकारण जीवन के अन्तिम काल में साढ़े तीन वर्ष वे श्री टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर, जयपुर में ही रहे। यहाँ से हो रही तत्त्वप्रभावना एवं विद्वानों की भावी-पीढ़ी के निर्माण को देखकर उनका चित्त सदा उल्लसित रहता था। जिनवाणी-प्रकाशन एवं तत्त्वप्रचार संबंधी समस्त गतिविधियों में वे जीवन के अन्तिम क्षण तक रुचि लेते रहे।

जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में जब वे बिना सहारे और सहयोगी बिना चल-फिर भी नहीं सकते थे, तब भी अपनी दैनिकचर्या में पूर्णत: सतर्क रहे। एक भी दिन ऐसा न निकला होगा; जिस दिन उन्होंने देवदर्शन न किये हों, पूजन न किया हो। बिना दर्शन-पूजन के वे कुल्ला भी नहीं करते थे।

जीवन के अन्त समय तक उनका स्वाध्याय भी नियमित रहा। स्मारक भवन में होनेवाले प्रात:कालीन एवं सायंकालीन प्रवचनों के वे नियमित श्रोता थे। इसके अतिरिक्त टेपों द्वारा गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचन भी वे प्रतिदिन नियमितरूप से सुनते थे।

असह्य पीड़ा में भी उन्हें कभी व्यग्र होते नहीं देखा। जीवन के अन्तिम वर्षों में बीमारी के वज्रप्रहार से वे एकदम पंगु से हो गये थे, पर उन्होंने इस अभाग्य को भी सद्भाग्य के रूप में देखा। वे कहा करते थे कि यदि मैं इस स्थिति में नहीं पहुँचता तो मुझे आत्मसाधना के लिए इतना समय भी न मिलता, सामाजिक कार्यों और धार्मिक-अनुष्ठानों में ही उलझा रहता।

पर इस जगत ने इस पंगु अवस्था में भी उन्हें नहीं छोड़ा; क्योंकि वे गुजरात में होनेवाले सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में तो अनिवार्य से हो गये थे। वे ऐसी ही अवस्था में भी अहमदाबाद पंचकल्याणक में गए, रणासन शिविर में

हिन्दीभाषी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का एकमात्र आश्रयस्थल उनका घर ही था। हिन्दी भाषी आत्मार्थी भाई, न केवल अपनी तत्त्वसंबंधी जिज्ञासाएँ उनसे शान्त करते थे; अपितु अपनी ठहरने, रहने, खाने-पीने एवं उठने-बैठने संबंधी असुविधाओं का समाधान भी उनसे ही प्राप्त करते थे। सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों के लिए उनका दरवाजा बिना किसी भेदभाव के सदा खुला रहता था। कोई भी व्यक्ति उनके दरवाजे से कभी निराश न लौटा होगा।

अगणित लोगों से अपनापन स्थापित कर उसे निबाह लेने की अद्भुत क्षमता उनमें थी। प्रत्येक व्यक्ति से सहज स्नेहिल-व्यवहार उनकी अपनी विशेषता थी, किसी से भी नाराज होते उन्हें कभी नहीं देखा गया। यदि बापूजी रामजी भाई सोनगढ़ के भीष्मपितामह हैं, तो सदा शान्त रहनेवाले सत्यानुरागी श्री खीमचंद भाई धर्मराज युधिष्ठिर थे।

पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद उत्पन्न स्थितियों से उनका हृदय अत्यन्त खेदखिन्न था। उनके निराकरण में सम्पूर्णत: सक्रिय रह पाना अस्वस्थ रहने के कारण यद्यपि संभव नहीं रह पाता था, तथापि सत्यपक्ष के सक्रिय समर्थन एवं सहयोग में वे कभी पीछे नहीं रहे। मुमुक्षु समाज की एकता के लिए सर्वस्व समर्पण की उनकी भावना अन्तिम साँस तक व्यक्त होती रही। मृत्यु-शय्या पर लेटे-लेटे भी उन्होंने आदरणीय लालचंदभाई को आश्वासन दिया था कि आप आत्मधर्म के पैसे वापिस करने की चिन्ता न करें। यद्यपि मेरे पास ..... फिर भी मैं .....?

उनके असामयिक महाप्रयाण से समस्त मुमुक्षु समाज के साथ-साथ हिन्दीजगत को सर्वाधिक अपूरणीय क्षति हुई है। मैंने तो अपना एक अत्यन्त स्नेही संरक्षक एवं हर अच्छे काम पर भरपूर पीठ थप-थपानेवाला उत्साह बढ़ानेवाला, सच्चा मार्गदर्शक ही खो दिया है। उनके निधन से मेरी जो व्यक्तिगत अपूरणीय क्षति हुई है, उसे शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है। मुझे उनका सदा ही पुत्रवत् स्नेह प्राप्त होता रहा है। मेरे समान न मालूम कितने मुमुक्षु भाई हैं, जो इसप्रकार का अनुभव करते होंगे?

श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदीका द्वारा निर्मित श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर का शिलान्यास उनके ही पावन कर-कमलों द्वारा संपन्न हुआ था; मुझे

इसीप्रकार हमारे जिन साथियों ने सबकी भावनाओं की अवहेलना कर जिनागम के आधार बिना जो कार्य किया है, उसमें भी उनकी अतिशय भक्ति ही मूल प्रेरक रही है। जिन पूज्य स्वामीजी ने उन्हें मिथ्यात्व के महा-अंधकार से निकालकर सद्धर्म का मार्ग सुझाया, उनके प्रति उनकी अतिशय श्रद्धा होना स्वाभाविक ही है, पर उन्हें अपनी श्रद्धा और भक्ति व्यक्त करने का आगमसंमत और जिन परम्परा से अविरुद्ध निरापद रास्ता चुनना चाहिए था।

हमारा भी यह दुर्भाग्य रहा कि अनन्त प्रयत्नों के बाद भी हम उन्हें इससे विरत न कर सके। इतना सब कुछ होकर भी वे आज भी उसी मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं और उससे उत्तेजित होकर समाज भी असंतुलित-सा होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे पास इस शान्तिप्रिय आन्दोलन के अतिरिक्त कोई रास्ता शेष नहीं रह गया है। इस महापाप से स्वयं बचने और समाज को बचाने के लिए प्रार्थना और उपवास करने के अतिरिक्त हम कर भी क्या सकते हैं ?

भाई ! जिस समाज में हम रहते हैं, उस समाज में होनेवाले हर गलत कार्य के हम भी तो कुछ अंशों में जिम्मेदार हैं; भले ही वह कार्य हमने न किया हो, हमने न कराया हो, हमने उसकी अनुमोदना भी न की हो; पर हम उसे रोक नहीं सके — यह पीड़ा तो हमें भी है ही। समझ लीजिए हमारी यह प्रार्थनाएं उस पीड़ा का ही परिणाम है, हमारे उपवास उक्त उत्तरदायित्व नहीं निभा पाने के प्रायश्चित हैं।

दुनिया चाहे बदले, चाहे न बदले; पर प्रार्थना में सम्मिलित होनेवालों को, उपवास करनेवालों को आत्मशान्ति तो प्राप्त होगी ही।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यदि समाज ने आपकी इस आवाज को नहीं सुना, इस पर ध्यान नहीं दिया, आपकी प्रार्थना सभाओं में लोग सम्मिलित न हुए तो आप क्या करेंगे ?

ऐसा भी हो सकता है — यह हमने सोचा ही नहीं है। हम समाज से अपने लिए कुछ नहीं माँग रहे हैं, लड़ने-मरने के लिए भी नहीं कह रहे हैं, मात्र प्रार्थना सभाएँ एवं उपवास करने के लिए ही तो कह रहे हैं। जिनवाणी माँ के अपमानित होने पर समाज इतना भी करने को तैयार न होगा — यह हम सोच भी नहीं

सकते। भाई ! आप कुछ भी कहें, पर 'समाज अभी इतना हृदयहीन नहीं हुआ है' — यह हम अच्छी तरह जानते हैं।

हमारा यह प्रयास विशुद्ध जिनवाणी की सुरक्षा एवं सामाजिक एकता के लिए ही है, इसमें हमारा स्वयं का कुछ भी स्वार्थ नहीं है। हमें आज भी सम्पूर्ण समाज का पूर्ववत् ही वात्सल्य प्राप्त है। इस अघट घटना के बाद भी हमने समाज में पाँच-पाँच पंचकल्याणक सम्पन्न किए हैं। एक हस्तिनापुर (उ.प्र.) में, एक अहमदाबाद (गुजरात) में, एक बागीदौरा (राजस्थान) में और दो दिल्ली में। सभी पंचकल्याणकों में अपार भीड़ ने बड़े ही प्रेम से तत्त्व सुना है, स्नेह प्रगट किया है। सब में मिलकर एक लाख रुपये से भी अधिक का धार्मिक साहित्य बिका है।

अभी हाल ही में सागर (म.प्र.) में २० दिवसीय विशाल शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर भी लगा था, जिसमें लगातार बीस दिन तक हजारों जनता ने मंत्र मुग्ध होकर तत्त्व सुना है और एक लाख का सत्साहित्य और कैसेट बिके हैं।

धार्मिक समाज का जो वात्सल्य हमें प्राप्त है, उसके बल पर हम कह सकते हैं कि समाज हमारी निश्छल आवाज की अनदेखी नहीं करेगी।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जहाँ न तो परम्परा व आगम विरुद्ध कार्य ही हो रहे हैं और न जिनवाणी की विराधना का महापाप; तथा जहाँ सामाजिक संगठन को भी कोई खतरा नहीं है, सर्वप्रकार शान्ति है; वहाँ इस आन्दोलन की क्या आवश्यकता है ?

भाई ! आगम विरुद्ध कार्य, जिनवाणी की विराधना एवं सामाजिक विघटन की समस्या क्षेत्र विशेष की समस्या नहीं है, अपितु देश-विदेश में फैली सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की समस्या है; अतः इस आन्दोलन को क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं रखा जा सकता।

क्या यह संभव है कि एक स्थान पर आगमविरुद्ध कार्य होते रहें या जिनवाणी की विराधना होती रहे और दूसरे स्थानों की समाज शान्ति से बैठी रहे ?

११

श्री खीमचन्दभाई : एक असाधारण व्यक्तित्व

(खीमचन्दभाई स्मृति विशेषांक, जैनपथप्रदर्शक अगस्त द्वितीय १९८४ से)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भागीरथ प्रयास से प्रवाहित आध्यात्मिक ज्ञानगङ्गा में आकण्ठ निमग्न चार लाख मुमुक्षु भाई-बहिनों एवं शताधिक आध्यात्मिक प्रवचनकार विद्वानों में आज ऐसा कौन है, जो आदरणीय विद्वद्वर्य श्री खीमचंदभाई जेठालाल शेठ से अपरिचित हो, अनुग्रहीत न हुआ हो; सोनगढ़ में प्रतिवर्ष श्रावणमास में लगनेवाले आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर उनकी कक्षा में न बैठा हो और जिसने उनसे कुछ-न-कुछ न सीखा हो?

हो सकता है उनसे साक्षात न भी सीखा हो, तो भी उनके शिष्य-प्रशिष्यों से तो सीखा ही होगा; प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु उनसे उपकृत अवश्य हुआ है, अनुग्रहीत अवश्य ही हुआ है। जो भाई उनके जीवनकाल में कदाचित् सोनगढ़ न भी पहुँच पाये हों, पर उन्होंने भी सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर होनेवाले उनके प्रवचनों का लाभ तो लिया ही होगा।

यही कारण है कि भारतवर्ष के कौने-कौने में बसनेवाले मुमुक्षु भाइयों को आज भी उनके बोल याद आते हैं। अध्यात्म जैसे दुरूह विषय को वे बोलों के माध्यम से जन-जन को कण्ठस्थ करा देते थे। आध्यात्मिक प्रवचनों और कक्षाओं के अतिरिक्त उनका स्नेहिल-व्यवहार भी मुमुक्षु भाई-बहिनों को उनकी ओर सहज ही आकर्षित करता था।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की अध्यात्मधारा से हिन्दी जगत को गहराई से परिचित करानेवाले आद्यप्रवक्ता श्री खीमचंदभाई ही थे। सोनगढ़ में

तो वे छूटते ही बोले — "जैसा गुरुदेवश्री कर गये हैं, वैसा ही रहेगा; जैसा उनके सामने चलता था, वैसा ही अब भी चलाइये।"

हमने संकोच से कहा — "आप तो कहते हैं, पर .....।"

हम अपनी बात पूरी ही न कर पाये कि वे बीच में ही बोल पड़े —

"लाओ, हम लिखकर देते हैं, फिर ....."

उन्होंने तत्काल कागज-पेन मंगाया और इस वृद्धावस्था में भी पूरा अपने हाथ से गुजराती में लिखकर दिया, जो आज भी हमारे पास सुरक्षित है। उसके महत्वपूर्ण अंश का अक्षरश: हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है —

"धर्मप्रेमी नेमीचन्दजी पाटनी एवं डॉ. हुकमचन्दजी,

आज आप दोनों हिन्दी आत्मधर्म — जो जयपुर से प्रकाशित होता है, उसके कार्यक्षेत्र के संबंध में खुलासा (करने-कराने) के लिए आये; इसलिए मैं निम्नलिखितानुसार स्पष्टीकरण करना योग्य समझता हूँ —

पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में सभी कार्य उसीप्रकार चलना चाहिए, जिसप्रकार गुरुदेवश्री की उपस्थिति में चलते थे। इसलिए हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन जिसप्रकार जयपुर से होता आया है, वह उसीप्रकार अभी भी वहाँ से ही चालू रखना है।

आपने हमसे यह भी चर्चा की कि पूज्य गुरुदेवश्री एवं पू. बहिनश्री के लिए क्या-क्या विशेषणों और शब्दों का प्रयोग करना। इस संबंध में भी मैं स्पष्ट करता हूँ कि जबसे हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन जयपुर से आरंभ हुआ है, तब से गुरुदेवश्री की उपस्थिति में जो विशेषण या शब्द प्रयोग करते रहे हैं; उनको आगे भी चालू रहना चाहिए। अत: उसी के अनुसार आगे रखना, जिससे गुरुदेवश्री के समक्ष से चली आई प्रणाली चालू रह सकेगी।"

उक्त उद्धरण से उनकी गुरुदेवश्री के प्रति निष्ठा एवं गुरुदेवश्री की उपस्थिति में चलनेवाली धर्मप्रभावना उसीप्रकार चलती रहे — यह भावना हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है। इसी भावना से वे आज इस वृद्धावस्था में सोनगढ़ में गुरुदेवश्री के अभाव में भी एकाकी डटे हुए हैं, अन्यथा सर्वप्रकार

गोली का जवाब गाली से भी नहीं

(नागपुर में जिनवाणी के अपमान होने पर उत्तेजित मुमुक्षु समाज के समक्ष २८ एवं २९ दिसम्बर १९८७ को दिये गये डॉक्टर भारिल्ल के ये व्याख्यान उनकी भावना, रीति-नीति और सामाजिक संदर्भ में उनके विचारों को व्यक्त करते हैं। इनके कैसेट भी उपलब्ध हैं। — सम्पादक)

प्रथम दिन

यदि आपने जीवनभर समयसार का स्वाध्याय किया है तो समझ लीजिये कि आज उसकी परीक्षा की घड़ी आ गई है। यदि आप लोगों का थोड़ा-बहुत भी विश्वास हम पर है तो आप यह सोचिए कि हम कोई चुप नहीं बैठे हैं, शान्त नहीं बैठे हैं। जितनी पीड़ा आपके हृदय में है, उससे कहीं ज्यादा पीड़ा हमारे हृदय में भी है। आप तो इसको (जिनवाणी को) पढ़ते ही हैं, परन्तु हम तो इसे पढ़ते भी हैं, पढ़ाते भी हैं और छपाते भी हैं; एक-एक अक्षर का प्रूफ-रीडिंग भी करते हैं। हमारा तो सारा जीवन इसी से जुड़ा हुआ है। **विवेक के खो देने से तो कोई काम दुनिया में सफल नहीं होता है। जब भी कोई ऐसा प्रसंग हमारे सामने उपस्थित हो तो हमें ऐसे प्रसंगों में हमारे पूर्वजों ने जैसा आचरण किया था, वैसा ही आचरण हमको भी करना चाहिए।**

सुबह तक की स्थिति में और अभी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। उत्तेजना का वातावरण सुबह तक दूसरे पक्ष में था; यह घटना घट जाने से अब हमारे प्रत्येक मुमुक्षु भाई का हृदय आंदोलित हो गया है; इसलिए हमें अब शांति की जितनी आवश्यकता है; उतनी आवश्यकता शायद इसके पहले नहीं थी। हम शांत चित्त से कम से कम यह सोच तो सके कि ऐसी घटनाओं का सामना करने के लिए हमें कौन-सा मार्ग चुनना चाहिए; जो हमारी

भगवान महावीर की परंपरा के अनुकूल हो, हमारी कुन्दकुन्द की दिगम्बर परम्परा के अनुकूल हो। कल हम इस जिनवाणी को यहाँ से कैसे ले जायेंगे, कहाँ ले जायेंगे; इसके बारे में अभी जल्दी कुछ भी घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है। हम लोग शान्त चित्त से एकबार विचार करेंगे और जब किसी निर्णय पर पहुँचेंगे, तब बतायेंगे कि अपने को क्या करना है।

जब आपके हृदय में इतनी गहरी वेदना है, इतना गहरा भाव है, उत्तेजना है तो एक बार एक समय का भोजन छोड़कर णमोकार मंत्र का पाठ करके पहले अपने चित्त को शान्त कीजिए। अशान्त चित्त में लिया गया कोई भी निर्णय आत्मा के हित के लिए तो होता ही नहीं है, समाज के लिए भी उपयोगी नहीं होता है। समाज टूटे नहीं और हमारी आत्मा की साधना, धर्म की साधना, जिनवाणी की आराधना शान्तिपूर्वक चलती रहें — ऐसा कोई मार्ग सोचेंगे।

अभी अपनी बुद्धि वाँझ नहीं हुई है कि हम किसी समस्या का समाधान न निकाल सके। इसलिए मेरा आप सबसे अनुरोध है कि अब हम क्या करेंगे और क्या नहीं करेंगे, इसके बारे में कोई घोषणा न करें। पहले तो कम से कम २४ घंटे तक अपने चित्त को शांत करें और फिर शान्तचित्त से निर्णय करें। (श्रोताओं से आवाज - जिनवाणी माता की जय कुन्दकुन्दाचार्य की जय — ३ बार)।

अपने लोगों से ही प्रताड़ित होकर यह जिनवाणी माता यहाँ आ गई है; तो अब यह यहाँ ऐसे ही नहीं जावेगी। जिसके हजारों बेटे-बेटियाँ यहाँ बैठे हों, वह अब ऐसे ही कैसे जा सकती है? अब तो यह गाजे-बाजे के साथ जावेगी, जिनेन्द्र रथयात्रा के समान इसकी यात्रा निकाली जावेगी। और जहाँ भी विराजमान होगी, जिनेन्द्र भगवान के समान ही पूजी जावेगी। (तालियाँ)

जब यह हमारे हृदयों में इतनी गहरी विराजमान हैं तो दुनिया की कौन-सी ताकत है कि जो इसे हमारे हृदयों में से निकाल सके? आप तो जानते ही हैं कि दर्पण का एक स्वभाव होता है, उसके सामने जो चीज आती है, वह

१५

श्री पूरनचन्दजी गोदीका : एक अनोखा व्यक्तित्व

(वीतराग-विज्ञान के, श्री पूरनचन्दजी गोदीका विशेषांक, दिसम्बर/जनवरी, १९८९-९० से)

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी और श्रीमान् सेठ श्री पूरनचन्दजी गोदीका के वियोग ने मुझे सर्वाधिक आन्दोलित किया है; क्योंकि एक से मुझे वीतरागी तत्त्वज्ञान मिला और दूसरे ने उसी वीतरागी तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के साधन जुटाये; एक का आशीर्वाद मुझे सतत् प्राप्त रहा, वरद हस्त मेरे मस्तक पर निरन्तर रहा तो दूसरे का असीम वात्सल्य भी आजीवन प्राप्त रहा है; एक की सभा में प्रमुख श्रोता के रूप में नियत स्थान पर बैठने का सुअवसर प्राप्त रहा तो दूसरे मेरी सभा के प्रमुख श्रोता रहे, अपने नियत स्थान पर बैठकर जीवन के अन्तिम दिन तक प्रवचन सुनते रहे।

आज भी जब मैं श्री टोडरमल स्मारक भवन के प्रवचन मण्डप में प्रवचन करने बैठता हूँ, तो मेरी दृष्टि बरबस ही उधर जाती है, जहाँ प्रवचन सुनने के लिए गोदीकाजी बैठा करते थे। उन जैसा नियमित एवं सतत् जागृत श्रोता मिलना आज दुर्लभ ही है। उनके शान्त सौम्य चेहरे पर एकदम सरल, सहज वैराग्यभाव सम्पूर्ण प्रवचनकाल में निरन्तर बहते रहते थे। प्रवचन के पाँच मिनट पहले अपना स्थान ग्रहण कर लेना और जिनवाणी स्तुति हो जाने के पूर्व कभी सभा छोड़कर नहीं जाना उनका दैनिक क्रम था।

इसमें कोई शक नहीं कि उनके क्षयोपशमज्ञान में जैनदर्शन का मूल तत्त्व अच्छी तरह आ गया था। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही एकमात्र आराध्य है, साध्य है; — यह वे अच्छी तरह समझ चुके थे। जीवन के अन्तिम क्षण

१३

सरस्वती के वरद पुत्र

(सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ से)

धवलादि महाग्रन्थों के यशस्वी संपादक, करणानुयोग के प्रकाण्ड पण्डित, सिद्धान्ताचार्य पदवी से विभूषित सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचंदजी शास्त्री उन गिने-चुने विद्वानों में से हैं, जिन्होंने टूट जाने की कीमत पर भी कभी झुकना नहीं जाना। संघर्षों के बीच बीता उनका जीवन एक खुली पुस्तक के समान है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनके संघर्षशील अडिग व्यक्तित्व की अमिट छाप है।

रणभेरी बजने पर स्वाभिमानी राजपूत का बैठे रहना जिसप्रकार संभव नहीं रहता, उसीप्रकार अवसर आनेपर किसी भी चुनौती को अस्वीकार करना — छात्र तेज के धनी पण्डित फूलचन्दजी को कभी संभव नहीं रहा। कठिन से कठिन चुनौती को सहज स्वीकार कर लेना, उनकी स्वभावगत विशेषता रही है। चुनौतियों से जूझने की अद्भुत क्षमता भी उनमें है।

'खानियाँ तत्त्वचर्चा' उनकी इसी स्वभावगत विशेषता का सुपरिणाम है, जो अपने आप में एक अद्भुत ऐतिहासिक वस्तु बन गई है। पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी की आध्यात्मिक क्रान्ति के धवल इतिहास में पण्डितजी की 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' एवं जैनतत्त्वमीमांसा' एक कीर्तिस्तंभ के रूप सदा ही स्मरण की जातीं रहेंगी।

मोटी खादी की धोती, कुर्ता और टोपी में लिपटा साधारण-सा दिखनेवाला उनका असाधारण व्यक्तित्व प्रथम दर्शन में भले ही साधारण लगे, पर निकट सम्पर्क होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता और दृढ़ संकल्प का परिचय सहज ही होने लगता है।

जिनवाणी तो हमारी गोद में, हमारे माथे पर आ ही गयी है। यह तो हम अपने माथे से उतारने वाले है ही नहीं, लेकिन हमारी समाज की भी एक समस्या है। महाराज श्री कोई आदेश दें और समाज उसको न मानें — यह कैसे सम्भव है? **वीतरागी नग्न दिगम्बर साधु भी हमारे सिरमोर हैं** और उनकी उपेक्षा नागपुर समाज तो क्या कोई भी समाज कैसे कर सकती है? इसलिए इस समाज की यह एक मजबूरी भी हो सकती है, यह बात हमको गहराई से अनुभव करना चाहिए कि इस दिशा में हम क्या कर सकते हैं ?

मेरे पास एक भाई श्री शिखरचन्दजी का एक पत्र आया है और उन्होंने मुझे यह पढ़कर भी सुनाया है। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया है कि आज आप उसे सभा में पढ़कर सुना दीजिए और इसके बारे में समाधान कर दीजिए। समाज को गलतफहमी है, वह कुछ दूर हो सकें, इसलिए पहले मैं उनका पत्र पढ़कर सुनाता हूँ और फिर मैं अपनी तरफ से उस गलतफहमी को दूर करने का प्रयास करुँगा।.

हम आपसे हाथ-जोड़कर प्रार्थना करते है कि एक दिन का, दो दिन का समय हमको दीजिए, जिससे इस माहोल में जो दोनों तरफ उत्तेजना बढ़ गई है, उसे हम अपने प्रयत्नों से शान्त कर सकें। यदि हम सफल न हुए तो अपना रास्ता चुनने के लिए हर एक को अवसर मौजूद ही है। जिदंगी में ऐसे मौके बहुत कम आते हैं। पत्र में लिखा है —

पहला प्रश्न : सोनगढ़ और उनके साहित्य से अभी आपका क्या संबंध है? ऐसा पता चला है कि आपने यह प्रकाशित किया है कि उनसे अब आपका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा तो आप अभी इस शिविर में भी यह घोषणा करें, ताकि समाधान हो सकें।

भाई! मैं आपको बताना चाहता हूँ, पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद कुछ ऐसे लोगों के हाथ में सोनगढ़ की व्यवस्था चली गयी कि जिनको न तो समाज की स्थिति की पूरी जानकारी है और न वे धार्मिक क्रियाओं के बारे में ही पूरी तरह वाकिफ है। हमारे बहुत प्रयत्न करने के बाद भी वे लोग नहीं मानें और उन्होंने यह भावी तीर्थंकर की मूर्ति विराजमान कर दी। इस कारण हमारे लोगों ने इस्तीफा दे दिया। 12 में से 8 ट्रस्टी हमारे थे

और उन सब 8 ट्रस्टियों ने इस्तीफा दे दिया। उसके बाद जो भी काम सोनगढ़ से हुऐ हैं, उन कामों से न हमारा कोई संबंध है, न सहयोग है, न हमारी अनुमोदना हैं।

रही बात हमारे आध्यात्मिक गुरु श्री कानजी स्वामी की। उन्होंने हमें जो अध्यात्म की शिक्षा दी है, उन्होंने जो वीतरागी तत्त्वज्ञान हमें दिया है; उसके लिए हम उनके ऋणी है और उन्हें हम अध्यात्म-विद्या के गुरु मानते हैं, 'देव-शास्त्र-गुरु' वाले गुरु नहीं।

यह ध्यान रखिए मैंने स्वयं श्री कानजी स्वामी से इन्टरव्यू लिया था, उस वक्त मैं आत्मधर्म का सम्पादक था, उसमें वह छापा भी था। उसमें यह बात उनसे पूछी थी कि आपको लोग 'गुरुदेव' क्यों कहते हैं? तो उन्होंने कहा था कि मैं 'देव-शास्त्र-गुरु' वाला गुरु नहीं हूँ। लोग मेरे से अध्यात्म सुनते हैं, इसलिए जैसे-रविन्द्रनाथ ठाकुर को गुरुदेव कहते हैं, गोपालदासजी बरैय्या को गुरुजी कहते थे- ऐसे ही लोग मुझे कहते हैं। मैं तो देव-शास्त्र-गुरु वाले गुरुओं का दासानुदास हूँ।

हम उन्हें अपना विद्यागुरु मानते हैं। जैसे हम भी अपने बच्चों को, विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं ना, तो वे भी हमें अपना गुरु मानते हैं तो हम देव-शास्त्र-गुरु वाले गुरु थोड़े ही हो गये। हम तो आप जैसे ही गृहस्थ हैं।

यह बात जब हम कह रहे थे, तब हमारे ब्रह्मचारीजी प्रद्युम्नकुमारजी ईसरी भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने कहा कि फिर वहां से प्रकाशित साहित्य को आप प्रकाशित क्यों करते हैं? इस बात को भी आप स्पष्ट कर दीजिए।

देखो भाई, यह समयसार है और इसकी संस्कृत में आत्मख्याति टीका 1000 वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्र ने बनाई। जयपुर के प्रण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने हिन्दी टीका बनाई। यह हिन्दी टीका आज से पिच्यासी (85) वर्ष पहले कारंजा के भट्टारकजी ने छापी। उसी टीका को सोनगढ़वालों ने छापा। अब उन्होंने छापना बंद कर दिया; क्योंकि हिन्दी प्रान्त से उनका सम्बन्ध कट गया है। हिन्दी प्रान्त में अब उनका कोई नहीं है, न ही उनका साहित्य बिकता है, न कोई लेता है। अत: कुन्दकुन्द के ग्रन्थ जब मिलना बन्द हो गये तो यह

लगा बीरबल था। काम की बातों के अतिरिक्त मैं उनसे व्यंग्य-विनोद भी कम नहीं करता था। भयंकर पीड़ा में भी जबतक एकबार उन्हें खिलखिलाकर हँसा न लूँ; न मुझे चैन पड़ता था, न उन्हें।

सखाभाव में जिसप्रकार का लड़ना-झगड़ना, हँसना-हँसाना, मिल-जुलकर जुटकर काम करना होता है; वैसा ही उनके साथ मेरा भी जीवन भर चला है। उनके अभाव में मैंने एक सच्चा मित्र, सन्मार्गदर्शक अग्रज एवं समर्थ साथी खो दिया है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने जो अध्यात्मगंगा प्रवाहित की है, उसके पावन जल को देश के कोने-कोने में पहुँचाने का काम जीवन भर आदरणीय बाबूभाईजी ने जिस विधि से किया है, वह अनुकरणीय है, अभिनन्दनीय है। आज जो भी तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार हो रहा है; उसमें बाबूभाईजी का योगदान अभूतपूर्व है, अद्‌भुत है। उनके निर्मल चरित्र, सात्त्विक जीवन, सरल स्वभाव, अनुकरणीय जिनभक्ति एवं अथक परिश्रम ने उन्हें सर्वत्र अबाध प्रवेश दिया था।

आज वे हमें छोड़कर अवश्य चले गए हैं; पर अपने पीछे तत्त्वप्रचार का एक सुगठित सशक्त तंत्र छोड़ गए हैं, जिसे हम संगठित रहकर चलाते रह सकें तो उनकी भावनाओं को साकार रूप प्राप्त होता रहेगा।

भाई! संसार का स्वरूप ही ऐसा है — एक दिन हम सबको भी जाना है, दो-चार वर्ष पीछे या दो-चार वर्ष आगे — इससे क्या अन्तर पड़ता है; अत: हम सभी को अपना जीवन इतना व्यवस्थित बनाना चाहिए कि हम प्रतिपल जाने को तैयार रहें, यदि मौत सामने आ भी जाय तो हमें एक समय भी यह विकल्प नहीं आना चाहिए कि जरा ठहरो! यह काम निबटा लूँ।

"लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे" — की भावना से ओत-प्रोत होकर जीने और मरने के लिए सदैव तैयार रहना ही वास्तविक जीवन है। — आदरणीय बाबूभाई ने ऐसा जीवन जिया था, हम सब भी इसीप्रकार शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी एवं आत्महित ही जिसमें मुख्य हो — ऐसा जीवन जिएँ और उनके समान ही धीर-वीर बनकर समाधि मरण के लिए भी प्रतिक्षण तत्पर रहें, सन्नद्ध रहें — इस पावन भावना से विराम लेता हूँ। ●

भी गये। जयपुर शिविरों में तो पूर्णत: सक्रिय रहते ही थे। सामाजिक उथल-पुथल में भी उनका मार्गदर्शन अन्त तक प्राप्त होता रहा है।

जब भी वे अपनी पंगुता का जिक्र करते तो मैं यही कहता कि आपके हाथ-पैर हम लोग तो हैं, आप आज्ञा तो दीजिए और देखिए — काम होता है या नहीं? आपके दो हाथ-पैर शिथिल हुए हैं तो सैकड़ों हाथ-पैर तैयार हो गये हैं।

जब वे यह सुनते तो एकदम प्रफुल्लित हो उठते। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस असाध्य रोग से अब जीवन भर उभरना सम्भव नहीं है — इस बात को वे कहते भी थे, पर उन्हें हतोत्साह होते कभी नहीं देखा; बल्कि इस असाध्य बीमारी को भी उन्होंने आत्महित के लिए उपयुक्त व अमूल्य अवसर ही समझा था।

अमंगल में भी मंगल देखने की वृत्ति उनकी सहज ही थी। किसी का अशुभ चिन्तन उनकी वृत्ति में था ही नहीं। किसी का बुरा करने की बात तो बहुत दूर, उन्होंने कभी किसी के बारे में बुरा सोचा भी न होगा — उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था।

मुझे इस बात का गौरव है कि इस महापुरुष के साथ लगातार बीस वर्ष तक कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने का सौभाग्य मिला है। आज उनके अभाव में मैं अपने को अकेला अनुभव करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे समर्थ आचार्यों के बड़े-बड़े ग्रंथाधिराज सोनगढ़ से प्रकाशित होते थे। जयपुर से तो मात्र धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें एवं छोटी-मोटी पुस्तकें ही प्रकाशित होती रही हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के महाप्रयाण के बाद जब सोनगढ़ से उनका प्रकाशन बन्द हो गया और जयपुर इतना समर्थ न था कि उन्हें प्रकाशित कर सके, तो हमें बहुत चिन्ता हुई। हमने इस सम्बन्ध में सभी प्रमुख लोगों को एक प्रपत्र भी भेजा, जिसमें सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया था।

पर एक दिन आदरणीय बाबूभाईजी ने मुझे बुलाकर कहा —

"डाक्टर साहब! मैंने एक बात सोची है कि आचार्यों के शास्त्रों को छपाने का काम जयपुर से ही आरम्भ किया जाय। यदि आप .....।"

नहीं आ रही है और उन्हें ऐसा लग रहा है कि हम समाज को/धर्म को बर्बाद कर रहे हैं। यदि सचमुच उनको ऐसा नहीं लगता तो इतना बड़ा काम वे नहीं करते। क्या वे नहीं जानते हैं कि सुभौम चक्रवर्ती ने णमोकार मंत्र को पानी में हाथ से लिखकर पैर से मिटा दिया था। इसके परिणाम स्वरूप वे सातवें नरक में गये थे। यह जिनवाणी जो अभी यहाँ रखी है वह साक्षात सर्वज्ञ भगवान की वाणी है, कुन्दकुन्द की वाणी है; आप देखना, इसमें विद्यानन्दजी महाराज की भी पुस्तकें हैं। एक उत्तर भारत में जयसागरजी महाराज हैं, दक्षिण (कुंभोज बाहुबली) में एक समन्तभद्रजी महाराज हैं। हम उनके पास जाते ही हैं। विद्यासागरजी महाराज हमारे साथ में केसली पंचकल्याणक में थे ही।

अब जो हमको गैर-दिगम्बर घोषित करें। जगह-जगह हमें निकालने की बात करें। हम उनके पास क्यों जायें, कैसे जायें; उनसे हमारा मेल कैसे बैठे? हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, लेकिन वह मेल बैठता ही नहीं। हम तो परसों से यहाँ आये हैं और इसी प्रयत्न में थे; लेकिन जैसा उत्तेजना का वातावरण अभी यहाँ है - ऐसे में हमारी हिम्मत तो नहीं पड़ी कि हम उस आग में कूद जायें। हमने कहा भी कि भाई! थोड़ा यह वातावरण शांत हो तो हम चलें, ऐसे अशान्त वातावरण में बात करने से कोई लाभ नहीं होता। इसलिए किसी के प्रति विरोध की बात तो है ही नहीं।

एक बात हम बता दें कि यह हमारी प्रतिज्ञा है और हमारे सारे प्रवक्ताओं को निर्देश भी हैं कि कोई किसी की निन्दा न करे। हमारी तरफ से किसी की निन्दा तो हम करते ही नहीं हैं। कोई बताए कि किस मुनि की हमने निन्दा की? हमारे प्रवचनों के कैसेट बनते हैं। पूरे साल भर हम आठ महीने घूमते हैं। सब जगह कैसेट बनते हैं। हमारा साहित्य भी उपलब्ध है। हम किसी की व्यक्तिगत निन्दा करते हों तो कोई निकालकर बताये।

भाई! हमें भी किसी के प्रति श्रद्धा है। जैसी किसी के प्रति श्रद्धा आपकी है तो किसी के प्रति हमारी भी है। हमारी श्रद्धा श्री कानजी स्वामी के प्रति है। उनके प्रति कोई अपशब्द बोले तो हमें कैसा लगेगा? क्या हम पत्थर के बने हुए हैं? अरे भाई! हम आपके ही तो भाई-बन्धु हैं। जिस जिनवाणी के

प्रति हमारी आस्था है, उसकी यह दुर्दशा आपने की है। क्या यह शोभा की बात है? यदि इतनी ही दिलेरी आप में है तो कुराण को ऐसा करके बतायें, रामायण को ऐसा करके बतायें, तो आपको सब मालूम पड़ जायेगा। इनमें विद्यासागरजी की फोटो है, किताबें हैं। जिनवाणी के प्रति उपेक्षा का परिणाम का फल क्या हो सकता है? लेकिन वे बेचारे क्या करें? उनके दिमाग में कहीं से यह भ्रम खड़ा हो गया है कि इसमें जहर मिला दिया है हमने।

अरे! वे तो बेचारे अपनी समझ में जैनधर्म की रक्षा कर रहे हैं। वे यह नहीं समझते हैं कि इस रक्षा के चक्कर में कहीं अनर्थ तो नहीं हो रहा है? वे तो समझाने के पात्र हैं। वे कण्टक हैं, अत: उन्हें मसल देना, हटा देना - ऐसी भाषा यह जैनियों को शोभा नहीं देती है।

किसी क्षत्रिय से पूछो 'व' का ब बनाना हो तो क्या करना पड़ता है, तो वह कहता है कि पेट चीर दो। बनिये से पूछो तो कहता है कि पेट भर दो। चीरने की भाषा - ये जैनियों की भाषा नहीं है। उसको तो हर समस्या का समाधान भरने से सूझता है। ये दिगम्बरों की भाषा नहीं है, ये महावीर की भाषा नहीं है, ये कुन्दकुन्द की भाषा नहीं है।

एक भी भाई हमसे जुदा हो - यह सोचने के आदी हम नहीं हैं।

भाई! एक दिन हम भी तो स्वामीजी के विरोधी थे। हमारी समझ में विषय आ गया तो हम अनुकूल हो गये। आप में से जो स्वामीजी के बड़े पक्षधर हैं, आज जिनकी आँखों में आँसू हैं; वे छाती पर हाथ रखकर बतायें कि जब तुम्हें यह बात पसन्द नहीं थी तो तुमने कितना विरोध किया था। जब समझ में आया तो पक्ष में हो गये। भाई! किसी को आज समझ में आया है, किसी को कल आयेगा, किसी को परसों समझ में आयेगा। इसलिए किसी कण्टक को समाप्त करने की बात हम तो सोच भी नहीं सकते हैं।

हम तो बहुत से बहुत आगे बढ़ेंगे तो यह सोच सकते हैं कि यदि समाज में शांति से रहकर हम अपनी धर्म साधना, साहित्य की आराधना और स्वाध्याय नहीं कर सकते तो अलग बैठ कर स्वाध्याय करें। बस इससे ज्यादा हम सोच

भी नहीं सकते। यह भी हमारे लिए कोई बहुत बढ़िया बात नहीं है कि अभी हाल दस लाख रुपया इकट्ठे करके एक नये मंदिर की नींव यहाँ डाल जाये और इतिहास में लिखा जाय कि यहाँ पर डॉ. भारिल्ल आये थे, तब यह मंदिर बना था। हम यह नहीं चाहते हैं।

उन्होंने कहा कि आप हनुमान बन जाये। भैय्या? हममें वह ताकत कहाँ है, हममें वह शक्ति कहाँ है? उन्होंने तो लंका में आग लगाई थी, वह ताकत हममें कहाँ है? उनमें वह ताकत थी और उनके सामने संहार करने के लिए राक्षस थे। हमारे सामने राक्षस कहाँ है? ये तो हमारे साधर्मी भाई हैं। यहाँ आग लगाकर तो अपने ही घर को जलाने की बात है।

एक बूढ़ी माँ थी और उसके दो बेटे थे। पिताजी का स्वर्गवास हो गया था। इसलिए उन्होंने निर्णय लिया कि माताजी की सेवा दोनों ही मिलकर करेंगे। दोनों ने माँ को आधा-आधा बाँट लिया। पिताजी होते तो एक भाई पिताजी को ले लेता और एक माताजी को। अकेली माताजी थी, तो एक इस पैर को दबाता, नहलाता, धुलाता और दूसरा दूसरे पैर को दबाता, नहलाता धुलाता — ऐसे दोनों सेवा करते थे।

एक दिन बड़ा भाई आया, उसने अपना पैर धोया और वह गीला था तो सोचा की इसे जमीन पर रखूँगा तो मिट्टी लग जायेगी। उसने उसे दूसरे पैर पर रख दिया। सोचा थोड़ी देर में सूख जायेगा तो नीचे रख दूँगा। दूसरा भाई आया और कहने लगा कि मेरा पैर गंदा है — इसका मतलब यह थोड़े ही है कि तू अपना पैर मेरे पैर पर रखे। वह अन्दर से मूसल ले आया और उसका पैर तोड़ दिया, टाँग तोड़ दी। दूसरे को भी गुस्सा आया। उसने दूसरी टाँग तोड़ दी। अम्मा की दोनों टाँगें टूट गयीं।

ऐसे ही जिनवाणी हमारी माता है। जिनवाणी माता को हम बाँट ले। कुछ आप हटाये, कुछ आप जलायें। यह कहकर कि इनके यहाँ से प्रकाशित है। इसलिए कुछ हम हटायें; क्योंकि कुछ जगह हमारा भी तो कब्जा है। कुछ मंदिरों में हमारा भी तो बहुमत है।

आखिर हम कोई ऐसे ही तो हैं नहीं। हम तुम्हारी निकालने लग जाये तो इससे जिनवाणी माता की दोनों टाँगें टूटने के अलावा और क्या होगा?

मेरा तो कहना है कि गोली का जवाब गोली से देने की बात तो बहुत दूर, हमें तो गोली का जवाब गाली से भी नहीं देना है। ऐसा पाप हमसे तो होगा नहीं।

(सभा में से एक आदमी चिल्लाया, हाथ में कंगन पहन लो)

अरे पहन लेंगे, क्या दिक्कत है।

भाई! तुम्हारे दु:ख को हम जानते हैं। तुम क्या समझते हो कि हमें खुशी हो रही है? अरे अभी तो दिक्कत यह है कि हमें अभी तो हमारे युवकों को ही शान्त करना पड़ेगा। आधी शक्ति इन युवकों को शान्त करने में लगेगी; क्योंकि जिस कुएँ का पानी आप पीते हो, उसी कुएँ का पानी हमारे बेटे भी पीते हैं। कुँआ अलग-अलग होता तो बात अलग थी। जिस मिट्टी में आप पले पुसे हो, उसी मिट्टी में ये पैदा हुये हैं, अब इनका क्या करें! यह तो अध्यात्म का प्रताप है कि हमारी इतनी बात सुन करके रह जाते हैं।

देखो! यह हमारा विद्यार्थी है और हमको बोलता है कंगन पहन लो! चुड़ियाँ पहन लो!! क्या करें? हम सब जानते हैं कि इनके दिल में कितना दर्द है, वह दर्द बोल रहा है।

यह तो सुबह शाम उठकर दिन में दो बार पैर पड़ने वालों में से है। कोई अविनयी लड़का नहीं है। यह तो बाल ब्रह्मचारी है। इसने तो अपना सारा जीवन इस काम के लिए समर्पित किया है। घंटे भर से बहुत उबल रहा है। मैंने अपने चार हनुमानों को भेजा है, इसे शान्त करने के लिए; लेकिन अभी तक शान्त नहीं हुआ है।

नहीं, भाई! यह रास्ता नहीं है। मैं आपसे कहता हूँ कि हम भी उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहे हैं। निश्चित रूप से यहाँ का जागरुक समाज इस बात पर गम्भीरता से विचार करेगा। आप चिन्ता मत करो। हम नागपुर से तभी जायेंगे, जब इस जिनवाणी माता की सुन्दरतम व्यवस्था हो जायेगी। ज्यादा दु:खी होने की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है। आपसे मेरा यह विनम्र अनुरोध है कि आप शान्ति बनाए रखें।

हम अन्तिम बिन्दु तक एकता के लिए प्रयत्न करेंगे। यदि हम अपने काम में सफल हो गये तो आपकी समाज की एकता को देखकर बहुत गौरव के साथ यहाँ से जायेंगे। इसी भावना के साथ मैं अभी की बात समाप्त करता हूँ और आगे का कार्यक्रम चलाने का आप सबसे अनुरोध करता हूँ।

दूसरा दिन

कल हमारे चित्त में जो बहुत खेद था और मैंने आपसे अपील की थी कि थोड़ा-सा समय हम शान्ति से बिताये, व्रत-उपवास करें और चित्त में उद्वेग न आने दें। फिर हम सोचेंगे कि हमें इसके बारे में क्या करना है?

इन २४ घंटों में हमने बहुत विचार-विमर्श किया। बहुत से लोगों से सलाह-मशविरा भी किया और हमारा तो यह विश्वास है कि जिस मन्दिर से यह जिनवाणी यहाँ आई है; उसी मंदिर से ही तो अपने पास जिनेन्द्र भगवान भी आये हैं। जिसप्रकार ये भगवान जावेंगे। उसीप्रकार एक न एक दिन, यह जिनवाणी भी उस मंदिर में अवश्य वापिस जायेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। हम कोई जबरदस्ती या किसी और तरीके से इस काम को नहीं करना चाहते हैं। **हम तो हमारे जो भाई हैं, उनका हृदय परिवर्तन चाहते हैं। वे हमें प्रेम से बुलायें और हम प्रेम से जायें, यही हमारा रास्ता है। उसमें भले ही थोड़ी देर लग सकती है, लेकिन अंधेर नहीं हो सकता।**

हृदयपरिवर्तन का जो काम है, वह समय-सापेक्ष होता है। हमें अपने हृदय की पवित्रता का परिचय देना पड़ता है; तब हम सामने वाले से हृदय परिवर्तन की अपेक्षा रख सकते हैं। इसलिए कुछ समय के लिए हम इस जिनवाणी को कहीं एक जगह विराजमान करेंगे। हमारे हृदय में जो पीड़ा है और जो क्षोभ है, उससे ऐसा लगता है कि हमारे सामने यह काम हुआ और हम अपनी कोई भी श्रद्धा इसके लिए समर्पित न कर पाये। ऐसा लगता है कि हमने जिनवाणी का अपमान सह करके कोई अर्घ्य नहीं चढ़ाया है। इसलिए हम यहाँ पर परसों बहुत अच्छी तरह से जिनवाणी का पूजा-पाठ करेंगे और इसे जुलूस के साथ ससम्मान जहाँ हमें रखना है, वहाँ ले जायेंगे।

हमने यह विचार किया है कौन ले जायेगा? कैसे ले जायेगा? सबके हृदय में यह बात है कि इन दो हजार आदमियों में से कौन इस जिनवाणी को ले जायें। सभी तैयार है तो क्या सबको एक-एक किताब दें? इसलिए हमने निर्णय किया कि सुन्दर केशरियाँ झण्डे वाला कपड़ा मंगाया जायेगा। जिनवाणी को सम्मान के साथ वेस्टनों में बाँधकर करीब २५ बंडल बनाये जायेंगे। बग्गियाँ लायेंगे। उन बंडलों को लेकर बग्गी में बैठकर जुलूस के साथ जायेंगे।उनकी यहाँ बोली होगी। उन पच्चीस बण्डलों को लेकर सब लोग जायेंगे। उन बोलियों में जो भी राशि आयेगी, वह उसी जिनवाणी की रक्षा और जिनवाणी के सम्मान में, प्रचार-प्रसार में ही काम आयेगी।

हम अभी कोई नया स्वाध्याय मन्दिर नहीं बनायेंगे। जबतक हमको यह पूरी आशा है कि हम उसी मन्दिर में स्वाध्याय करेंगे, बैठेंगे और वहीं जिनवाणी विराजमान करेंगे। जबतक यह नहीं हो जाता, तबतक कहीं हमको २-४ महीने बैठना पड़ सकता है और उसके लिए हमें खर्चे की व्यवस्था करनी पड़ सकती है। वह सारा पैसा आपका उसी व्यवस्था के काम आयेगा।

हम पृथकता के दृष्टिकोण को लेकर नहीं चलना चाहते हैं। हम बरसों इंतजार करेंगे और जब बिल्कुल थक जायेंगे; तब कोई दूसरी बात सोचेंगे। बोलियाँ तो पच्चीस ही होंगी, शेष के लिए गुल्लक रखा जायेगा। इस काम के लिए जो भी अपनी श्रद्धा समर्पित करना चाहें, वह उस गुल्लक में पैसे डालकर अपनी भावना पूर्ण करें। इसकी व्यवस्था के लिए यहीं के जो आदमी हैं, उनकी कमेटी बना दी जायेगी। वे इस काम को देखेंगे। जो बाहर वाले आये हैं, उनकी भी ड्यूटी है कि वह इस काम के लिए अधिक से अधिक दान राशि देकर जाएं।

यहाँ वाले तो देंगे ही, यहाँ वालों को तो करना ही है। उस जिनवाणी की सवारी बहुत शान के साथ ले जायेंगे। जहाँ भी वह रहें, शान के साथ विराजमान रहें। स्वाध्याय चालू रहें। जब भी वापस उस मन्दिर में हमारी जिनवाणी पहुँचेंगी तो जो पैसा बचेगा हम उस मन्दिर में दे देंगे। जिस मन्दिर में यह

विराजमान होगी, वहीं वह पैसा दिया जायेगा। ऐसी कोई बात नहीं है कि हमको अलग करना है। लेकिन जबतक हमको अलग रहना पड़ेगा, तबतक उस व्यवस्था में जितना भी खर्च होगा, इसी में से होगा।

यदि आपको स्वाध्याय आदि की कोई तकलीफ आये तो आप जितने भी रुपये महीने के हिसाब से जो भी जगह मिले, वह किराये से ले लीजिए, मैं तो आपको अपनी तरफ से, संस्थाओं की तरफ से, ये आश्वासन देता हूँ कि उसका ५०% किराया आपको हम देंगे। यदि आप २०००/- रुपये महीने की जगह लेंगे तो १०००/- रुपये हम देंगे। उसके बाद भी अपनी जगह बनाने की आवश्यकता पड़ी तो उसके लिए भी हमसे जो बनेगा, आपका हाथ हम अवश्य बटायेंगे। मैं चाहता हूँ कि यहाँ कभी आवश्यकता पड़े ही नहीं। कल सब लोग सोचकर आयें, मैंने २४ घण्टे पहले आपको सूचना देनी जरूरी समझी।

भाई! उपवास को व्यक्तिगत ही रहने दो, सामूहिक रूप न दें। हमको कोई आन्दोलन खड़ा नहीं करना है। **हमको तो प्रायश्चित्त करना है। अपने दु:ख का शमन करना है। हमारे सब लोगों ने आज जिससे जैसा बना है, वैसा किया ही है। कषाय की बात भी बिल्कुल भी अपने चित में न लायें।** जैसा उत्साह का वातारण अभी आपने अन्य बोलियों में बताया है, वैसा कल आपको जिनवाणी के प्रति बताना है। वास्तव में आपकी जो भक्ति कुन्दकुन्द के प्रति है, उन्हीं कुन्दकुन्द की यह वाणी है, इसमें आपका उत्साह देखने को मिलेगा; - ऐसा मेरा पूरा विश्वास है। एक दिन फिर हम जल्दी से जल्दी नागपुर में आयेंगे और अखण्ड समाज के एक सामूहिक आमंत्रण पर आयेंगे। ऐसी मेरी भावना है।

* * *

डॉ. भारिल्ल के इस व्याख्यान का जादू जैसा असर हुआ और वातावरण एकदम शान्त हो गया। जब बोलियाँ लगीं तो सबसे पहली बोली - डॉ. भारिल्ल ने ही ली थी। फिर तो बोलियों का ताँता लग गया। २५ के स्थान पर ५० बोलियाँ लगानी पड़ीं। कालान्तर में मन्दिर भी बनाना पड़ा और वह मन्दिर भी दर्शनीय बन पड़ा है। •

१६

आचार्य कुन्दकुन्द और दिगम्बर जैन समाज की एकता

दिगम्बर जैन समाज में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा, जो आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति श्रद्धावनत न हो, उनके प्रति समर्पित न हो, उनकी द्विसहस्राब्दी वर्ष में उन्हें अपने श्रद्धासुमन समर्पित न करना चाहता हो। अत: पहले जिसप्रकार सम्पूर्ण जैन समाज ने भगवान महावीर का पच्चीसवाँ निर्वाण वर्ष विभिन्न आयोजनों के माध्यम से जिस उत्साह के साथ मनाया था; उसी प्रकार उसी उत्साह के साथ आचार्य कुन्दकुन्द का यह द्विसहस्राब्दी समारोह भी मनाया जाना चाहिए।

भगवान महावीर के पच्चीसौवें निर्वाण महोत्सव में जैन समाज में एक अभूतपूर्व एकता के दर्शन हुए थे, हम सब एक-दूसरे के नजदीक आये थे। उसीप्रकार इस महोत्सव में भी दिगम्बर समाज की एकता के सन्दर्भ में उच्चस्तरीय प्रयत्न किये जाने चाहिए।

वस्तुत: स्थिति यह है कि जो भी व्यक्ति दिगम्बर जिनधर्म का अनुयायी है, वह कुन्दकुन्द का अनुयायी अवश्य होगा ही और जो कुन्दकुन्द का अनुयायी है, वस्तुत: वही सच्चा दिगम्बर जैन है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दिगम्बर जिन-परम्परा के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द को श्रद्धांजलि समर्पण करने के लिए सभी दिगम्बर धर्मानुयायी भाई-बहिनों को कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह की छत्रछाया में एकत्र होकर एक आवाज में कुन्दकुन्द की वाणी से सारे भूमण्डल को इसप्रकार गुंजायमान कर देना चाहिए कि वह आवाज न केवल काश्मीर से कन्याकुमारी तक ही पहुँचे, अपितु सात समुद्र पार देश-विदेशों में भी पहुँचे और सम्पूर्ण जगत को सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

इस सन्दर्भ में आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज ने आज से चार-पाँच वर्ष पूर्व श्रवणबेलगोला में सम्पन्न महामस्तकाभिषेक के समय ही चर्चा की थी। उनके मन में तो यह बात इससे भी पहले थी, उसी के परिणामस्वरूप कुन्दकुन्द भारती की स्थापना हुई थी।

उनसे प्रेरणा पाकर हमने भी अपने अगस्त, 1987 के जयपुर शिविर में विचार-विमर्श कर इस महोत्सव को पूरी शक्ति लगाकर मनाने का निर्णय लिया। पर इसमें गति तब आई, जब आचार्य विद्यानन्दजी महाराज जयपुर पधारे और उन्होंने इसके लिए हमें प्रेरित ही नहीं किया, अपितु दस हजार की जनसभा में आदेश दिया कि आपको इस कार्य को पूरी शक्ति लगाकर करना है।

हमें अपार प्रसन्नता हुई, पर हमने कहा कि हम तो जो आप कहेंगे, करेंगे ही; पर जबतक आप इसमें रस नहीं लेंगे, तबतक अखिल भारतीय स्तर पर जिस रूप में यह उत्सव होना चाहिए, नहीं हो पावेगा; क्योंकि हमारी शक्ति तो सीमित है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री का ध्यान इस ओर है और उन्होंने अहमदाबाद में सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के सभी प्रमुख लोगों की एक मीटिंग इस बात पर विचार करने के लिए बुलाई; जिसमें मुझे भी याद किया गया। आचार्य कुन्दकुन्द को श्रद्धांजलि समर्पित करने का यह अवसर चूकना मुझे कदापि इष्ट न था; अत: उस मीटिंग में मैं भी उपस्थित हुआ।

उक्त अवसर पर महाराजश्री से बहुत ही उपयोगी अनेक चर्चाएँ हुईं। यह तो आप जानते ही हैं कि महाराजश्री के हृदय में समाज की एकता की बहुत बड़ी टीस है, वे सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को सुगठित एकता के सूत्र में आबद्ध देखना चाहते हैं।

अहमदाबाद के समीप कोवा आश्रम में एक सार्वजनिक सभा में, जिसमें दिगम्बर जैन समाज के लगभग सभी वर्ग के लोग उपस्थित थे, महासमितिवाले, परिषद्वाले, महासभावाले और सोनगढ़-जयपुरवाले मुमुक्षुभाई भी उपस्थित थे, महाराजश्री से प्रेरणा पाकर मैंने सभी से एक मार्मिक अपील की थी, उसका

सभी ने स्वागत भी किया था, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज तक पहुँचाने के लिए मैं उसे यहाँ भी दुहराना चाहता हूँ।

मैंने उस समय कहा था कि आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा के सन्तों एवं समाज के कर्णधारों से इस अवसर पर मैं एक अपील करना चाहता हूँ कि जिन लोगों ने आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का गहरा अध्ययन कर, उन पर अपना सर्वस्व समर्पण कर, अपना सम्प्रदाय और समाज को छोड़कर दिगम्बर धर्म अंगीकार कर लिया है; उन्हें ससम्मान छाती से लगाने का यह अवसर है, जिसे चूकना समझदारी तो है ही नहीं, खतरनाक भी हो सकता है; क्योंकि यह उपेक्षा एक नये पंथ को जन्म देने का मार्ग प्रशस्त कर सकती है, जो कि पहले से ही अनेक पंथों में विभक्त दिगम्बर समाज के लिए एक सिरदर्द ही होगा। क्षेत्रीय दृष्टि से भी यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत: यदि इस अवसर पर बिना किसी किन्तु-परन्तु के हम उन्हें गले लगा सकें तो यह आचार्य कुन्दकुन्द को एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी की पावन प्रेरणा से दिगम्बर बने मुमुक्षु भाइयों से भी मैं एक विनम्र अपील करना चाहता हूँ कि स्वामीजी ने जीवन भर आचार्य कुन्दकुन्द को पढ़ा है, स्वामीजी का जीवन उनके ग्रन्थों के पठन-पाठन को समर्पित ही रहा है; अत: अब आपके मनों में भी अपार प्रसन्नता होनी चाहिए और आप लोगों को भी सच्चे हृदय से इस महायज्ञ में सम्मिलित हो जाना चाहिए, तन-मन-धन से पूरा सहयोग करना चाहिए, शंकाओं-आशंकाओं को तिलांजलि देकर अन्तर्बाह्य से सम्पूर्ण दिगम्बर शुद्ध परम्पराओं को खुले दिल से स्वीकार कर अपने को सम्पूर्ण दिगम्बर समाज में समाहित कर लेना चाहिए। कुन्दकुन्द की अनुयायी दिगम्बर समाज में समाहित होने का इससे अच्छा अवसर आपको फिर कभी प्राप्त नहीं होगा।

आशा है सम्बन्धित व्यक्ति मेरी इस मार्मिक अपील पर अवश्य ध्यान देंगे।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के नेतृत्व में आज से पचास वर्ष पूर्व हुई इस आध्यात्मिक क्रान्ति से मात्र वे ही लोग प्रभावित नहीं हुए हैं, जो अपना सम्प्रदाय छोड़कर उनके साथ दिगम्बर धर्म में सम्मिलित हुए हैं, लाखों

दिगम्बरों ने भी उनके इस कुन्दकुन्दीय आध्यात्मिक आन्दोलन से भरपूर लाभ उठाया है।

इसप्रकार आज लगभग चार लाख लोग ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में उनसे प्रभावित हैं।

आज न तो कानजी स्वामी ही हैं और न वे लोग, जिन्होंने उनके साथ दिगम्बर धर्म स्वीकार किया था। आज तो उनके अनुयायियों में ऐसे लोग ही अधिक हैं, जिनका जन्म ही तब हुआ था, जब उनके माँ-बाप दिगम्बर धर्म स्वीकार कर चुके थे; इसप्रकार वे भी एकप्रकार से मूल दिगम्बर ही हैं। अत: मूल दिगम्बर और नये दिगम्बर इसप्रकार के भेद का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है।

जिन लोगों को आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी का रहस्य आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के माध्यम से प्राप्त हुआ है, उन लोगों पर आज मुनिविरोधी होने का आरोप लगाया जा रहा है। इसीप्रकार का आरोप स्वामीजी पर भी लगाया गया था। इस बात की सच्चाई जानने के लिए और उसे समाज के सामने रखने के लिए मैंने स्वयं स्वामीजी से कुछ इन्टरव्यू लिये थे और उनके ही पत्र आत्मधर्म में प्रकाशित भी किये थे, जिनके कुछ महत्वपूर्ण अंश इसप्रकार हैं —

प्रश्न : आपको लोग गुरुदेव कहते हैं। क्या आप साधु हैं? गुरु तो साधु को कहते हैं।

उत्तर : साधु तो नग्न दिगम्बर छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते हुए भावलिंगी वीतरागी सन्त ही होते हैं। हम तो सामान्य श्रावक हैं, साधु नहीं। **हम तो साधुओं के दासानुदास हैं। अहा! वीतरागी संत कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र आदि मुनिवरों के स्मरण मात्र से हमारा रोमांच हो जाता है।**

''मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध हैं, हम तो उनके दासानुदास हैं'' उक्त शब्द पूज्य स्वामीजी ने तब कहे, जब उनसे पूछा गया कि कुछ लोग कहते

हैं कि आप मुनिराजों को नहीं मानते, उनका अपमान करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा — "अपमान तो हम किसी का भी नहीं करते, निन्दा भी किसी की नहीं करते, फिर मुनिराजों की निन्दा करने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है?

शुद्धोपयोग की भूमिका में झूलते हुए नग्न दिगम्बर परमपूज्य मुनिराज तो एक प्रकार से चलते-फिरते सिद्ध हैं, हम तो उनके दासानुदास हैं। उनकी चरणरज अपने मस्तक पर धारण कर कौन दिगम्बर जैन अपने को धन्य नहीं मानेगा?"

कहते-कहते जब वे भावमग्न हो गये, तब मैंने उनकी मग्नता भग्न करते हुए कहा — "आजकल कुछ लोगों द्वारा यह प्रचार बहुत जोरों से किया जा रहा है कि आप मुनि विरोधी हैं।"

तब वे अत्यन्त गंभीर हो गये और बोले — **"मुनिराज तो संवर और निर्जरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। मुनिविरोध का अर्थ है — संवर और निर्जरा तत्त्व की अस्वीकृति। जो सात तत्त्वों को भी न माने वह कैसा जैनी? हमें तो उनके स्मरण मात्र से रोमांच हो जाता है। "णमोलोए सव्व साहूणं" के रूप में हम तो सभी त्रिकालवर्ती मुनिराजों को प्रतिदिन सैकड़ों बार नमस्कार करते हैं।**

प्रश्न : समाज वैसे ही अनेक पंथों में बंटा हुआ है, जैसे — तेरापंथ, बीसपंथ, तारणपंथ, गुमानपंथ आदि। फिर अब आप और क्यों नया पंथ चला रहे हैं?

उत्तर : हमने तो कोई नया पंथ नहीं चलाया और न चला ही रहे हैं। हमारा तो पंथ एक ही है और वह है आचार्य कुन्दकुन्द का "सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर"। जो कुन्दकुन्दाम्नाय का मूल दिगम्बर मार्ग है, हमने तो उसी को बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया है, हम तो उसी पर चल रहे हैं, हमने कोई नया मार्ग नहीं पकड़ा। अनादिनिधन जो मूल मार्ग है, वही हमारा मार्ग है। जिस पथ पर परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, भूतबलि, पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र चले, पण्डित बनारसीदासजी और टोडरमलजी चले, उसी पर हम चल रहे हैं, वही हमारा पंथ है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि न तो स्वामीजी मुनिविरोधी ही थे और न उन्होंने कोई नया पंथ ही चलाया था; पर सच बात तो यह है कि जब उन्होंने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया तो उनके परिवर्तन के मूल में आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार के साथ-साथ पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

जो भी हो, समाज में आज भी अनेक पंथ हैं और वे अपनी-अपनी मान्यताएँ भी अलग-अलग रखते हैं, पर कोई किसी को दिगम्बर मानने से इन्कार नहीं करता। कोई क्षेत्रपाल-पद्मावती की पूजन को गृहीतमिथ्यात्व मानता है तो कोई उनकी भगवान जैसी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं, कराते हैं; कोई अपने मंदिरों में मूर्तियों को प्रतिष्ठित करते हैं और कोई अपने चैत्यालयों में मात्र जिनवाणी ही रखते हैं। एक-दूसरे की मान्यताओं से असहमत रहते हुए भी एक-दूसरे को दिगम्बर तो स्वीकार करते ही हैं। तब फिर थोड़ी बहुत प्रवृत्तियाँ भिन्न होने मात्र से किसी को गैर-दिगम्बर कैसे कहा जा सकता है?

हम भी सूर्यकीर्ति प्रकरण से पूरी तरह असहमत हैं और हमने अपनी असहमति को समय-समय पर पूरी शक्ति से व्यक्त भी किया है, पर इस कारण उन्हें दिगम्बर ही न मानें — यह तो सर्वथा अन्याय है। **जो भी व्यक्ति कुन्दकुन्द का भक्त है, उनकी वाणी में श्रद्धा रखता है और वह पक्का दिगम्बर जैन है। न तो इस सत्य को ही झुठलाया जा सकता है और न यह भी माना जा सकता है कि कानजीस्वामी के अनुयायियों को कुन्दकुन्दवाणी में श्रद्धा नहीं है।** सच तो यह है कि कुन्दुकन्दवाणी में जैसी अगाध श्रद्धा उनमें है, वैसी अपने को मूल दिगम्बर कहनेवालों में भी कम ही देखने को मिलती है।

अब रही शिथिलाचार के विरोध की बात, तो दिगम्बर जैन समाज में ऐसा तो एक भी व्यक्ति नहीं होगा, जो शिथिलाचार का विरोधी न हो और सभी मुनिराजों में एक-सी श्रद्धा रखता हो। कोई किसी को मानता है तो कोई किसी को, एक-दूसरे की आलोचना भी कम नहीं करते, पर इसका यह तात्पर्य तो नहीं कि सभी मुनिविरोधी हैं।

दूसरी बात यह भी तो है कि जिन मुनिराजों से मुमुक्षु-भाइयों का सम्पर्क बढ़ता है और जो मुनिराज उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान करते हैं, तो उन्हें सोनगढ़ी मुनिराज घोषित कर दिया जाता है, उन्हें मुनि मानने से भी इन्कार किया जाने लगता है। आचार्य विद्यानन्दजी महाराज स्मारक में पधारे तो उनके भी तिरस्कार करने की असफल कोशिश की गई। ब्यावर संबंधी घटना इसका सशक्त प्रमाण है।

इतनी प्रतिकूलताओं में भी हमने कभी किसी की आलोचना नहीं की, विरोध नहीं किया, फिर भी झूठे आरोप लगा-लगाकर हमें निरन्तर बदनाम करने के प्रयास चल रहे हैं, जो दिगम्बर जैन समाज की एकता में सबसे बड़े बाधक कारण हैं। उदाहरण के रूप में उज्जैन, नागपुर और बागीदौरा की घटनाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है।

किसी के किसी प्रकार का मतभेद होना अलग बात है और लड़झगड़कर समाज में फूट डालना एकदम अलग बात है।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि हम न तो किसी की निन्दा ही करते हैं और न ही लड़ाई-झगड़ा करना चाहते हैं, हम तो शान्ति से अपना स्वाध्याय करना चाहते हैं और जिनवाणी के प्रसाद से जो कुछ भी प्राप्त हुआ है; उसे जन-जन तक पहुँचाना चाहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी वाणी में जिनकी आस्था है, वे सभी हमारे सच्चे साधर्मी भाई हैं, उनसे रंचमात्र भी वैर-विरोध हमें अभीष्ट नहीं है; अपितु हम उनका हार्दिक वात्सल्य चाहते हैं, कुन्दकुन्द के अनुयायियों की अर्थात् सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की एकता हमें हृदय से अभीष्ट है, तदर्थ हम अपनी आस्थाओं को छोड़कर और सबकुछ समर्पित करने को तैयार हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के इस पावन द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर दिगम्बर जैन समाज के कर्णधारों से मैं एक बार फिर विनम्र अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे दिगम्बर जैन समाज की ऐसी एकता के लिए; जिसमें कुन्दकुन्द का एक भी भक्त बाहर न जावे, सच्चे मन से प्रयास करें। हमारी ही नहीं सभी कुन्दकुन्द भक्तों की हार्दिक मंगल कामनाएँ उनके साथ हैं। •

१७

जोश एवं होश

जनरेशन गैप अर्थात् पीढ़ियों का अन्तर आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। गत अर्द्ध शताब्दी में दुनिया जिस तेजी से बदली है, उतना परिवर्तन पिछली कई शताब्दियों में नहीं हुआ। नवीनतम वैज्ञानिक खोजों एवं द्रुतगति से हुए औद्योगिक विकास ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

परिवर्तन की गति जितनी तेज होगी, जनरेशन गैप की समस्या भी उतनी ही उग्र रूप से सामने आएगी। यही कारण है कि आज बाप और बेटों के विचारों में काफी असमानता आ गई है। पहली पीढ़ी कितनी ही आधुनिक हो, पर अगली पीढ़ी आते-आते वह अपने कार्यों, विचारों में अगली पीढ़ी वालों की दृष्टि में काफी पुरातनपंथी लगने लगती है।

कहा जाता है — आज यह दूरी इतनी बढ़ती जा रही है कि लगता है कहीं उन्हें जोड़ने वाला तन्तु ही टूट न जाए। वैसे सदा ही यह अन्तर किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है, पर संबंध टूटने की स्थिति कभी नहीं बनी। आज अपने को अप-टू-डेट (नये जमाने का) मानने वाले युवक अपने ही बुजुर्गों को एकदम आउट-ऑफ-डेट (पुराने जमाने का) मानने लगे हैं, तथा आज का बुजुर्ग अपनी सन्तानों को हिप्पीवादी के रूप में देखने लगा है।

स्थिति का चित्र जितने भयावह रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वस्तुतः स्थिति उतनी खराब है नहीं; पर हमारी आदत ही कुछ बातों को बढ़ा-चढ़ाकर करने की हो गई है। यह प्रचार का युग है और प्रचार के युग में ऐसा ही होता है। सब-कुछ मिलाकर स्थिति लाइलाज नहीं है, बात कुछ दोनों को ही परस्पर एक-दूसरे को समझने की और समझकर सामंजस्य करने की है।

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों में जोश और प्रौढ़ों में होश की प्रधानता होती है। युवकों में जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है, उतना अनुभव नहीं होता, होश नहीं होता। इसीप्रकार प्रौढ़ों में जितना अनुभव होता है, उतना जोश नहीं।

कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश दोनों की ही आवश्यकता होती है। अत: देश व समाज को दोनों की ही आवश्यकता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

मनुष्य पशुओं से इस अर्थ में भाग्यशाली है कि उन्हें अपने पूर्वजों से अनुभव का भी लाभ प्राप्त होता है। पशुओं को सब-कुछ ठोकर खाकर ही सीखना पड़ता है। पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठाना मानव जीवन की सार्थकता है और उनके अनुभवों की उपेक्षा करना मानव को प्राप्त सुविधा की अवहेलना है। नई पीढ़ी को इस तथ्य की ओर ध्यान देना जरूरी है।

काम जोश से होता है, शक्ति से होता है — इस बात की उपेक्षा करना भी हितकर नहीं है। सुनिश्चित योजना होश में अनुभव से बनती है और उसकी क्रियान्विति के लिए पूरी शक्ति और जोश की आवश्यकता होती है। बिना जोश का होश शक्तिहीन मरियल घोड़े की सवारी है और बिना होश का जोश बिना लगाम के घोड़े जैसी सवारी है। दोनों ही सवार अपने गन्तव्य पर नहीं पहुँच पायेंगे। गन्तव्य पर पहुँचने के लिए शक्तिशाली जोशीले घोड़े और अनुभवी सवार का सही मार्गदर्शन बहुत जरूरी है।

आज समाज में देश में दोनों ही चीजें विद्यमान हैं, न जोश की कमी है न होश की। बस, आवश्यकता समुचित नियोजन की है। समुचित नियोजन का उत्तरदायित्व होशवालों पर अधिक है; क्योंकि वे अनुभवी हैं। जोशवालों की जिम्मेदारी मात्र इतनी है कि वे अपने अनुभवी बुजुर्गों की तर्क-संगत बात सुनें, समझें और यथासंभव ससम्मान कार्यरूप परिणत करें। बुजुर्गों का मार्गदर्शन भी सीधा-सच्चा बिना लम्बे-चौड़े उपदेश के अपेक्षित है।

कम-से-कम मैं अपने बारे में ऐसा अनुभव करता हूँ कि मुझे युवक बुजुर्ग मानते हैं और बुजुर्ग युवक। दोनों ही मुझे अपने में स्वीकार करने को तैयार

नहीं हैं। मैं हूँ भी उम्र की इस स्थिति में। अनुभव तो मुझमें कितना क्या है, मैं नहीं जानता, पर काम करने का जोश बरकरार है, अभी कम नहीं हुआ है। आशा है मेरी इस स्थिति पर दोनों ही वर्ग सद्भावनापूर्वक विचार करेंगे।

युवकों से मेरा कहना है कि भविष्य का सब कुछ अपने को ही तो मिलना है, आज न सही तो कल। इनके अनुभव से जितना लाभ उठा सको, उठा लो; नहीं तो इनका क्या ? ये कितने दिन के मेहमान हैं ? आज मरे और कल तीसरा दिन होने वाला है। रहेंगे तो भी क्या ? ऐसे होकर रहेंगे कि न कुछ सुन पायेंगे, न देख पायेंगे।

बुजुर्गों से भी तो मैं एक बात कहना चाहता हूँ कि इनकी कोरी आलोचना से क्या हाथ आएगा तुम्हारे ? जितना सिखा सको, प्रेम से सिखा दो; अन्यथा तुम्हारी कला तुम्हारे साथ ही चली जाएगी। तुम्हें तो इनके लिए सब कुछ छोड़कर जाना ही है। चाहे अच्छी तरह छोड़ जाओ, चाहे मजबूरी में। मेरी मानो तो इन्हें अच्छी तरह ही क्यों नहीं सौंप जाते हों अपनी निधि को। देर करने से भी क्या लाभ ? आज नहीं तो कल देना तो है ही।

दोनों ही पीढ़ियों से मैं अपेक्षा करता हूँ कि वे अपने कार्यों से, क्रियाकलापों से दोनों पीढ़ियों की दूरी को कम करेंगे, पाटेंगे, बढ़ायेंगे नहीं। दोनों की सम्मिलित शक्ति देश को व समाज को आगे बढ़ाएगी।

बुजुर्गों के अनुभवों से पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए युवक निरन्तर आगे बढ़ें — इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ। •

ज्ञानी तो अपने प्रयोजन की सिद्धि की सफलता में ही अपनी जीत मानते हैं। अत: वस्तुत: वे कभी हारते ही नहीं; क्योंकि वे येन-केन-प्रकारेण अपने प्रयोजन की सिद्धि को ही लक्ष्य में रखते हैं।

सत्य की खोज, पृष्ठ १६

तृतीय खण्ड

सैद्धान्तिक

१

समयसार का प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु भगवान आत्मा

(जैनपथप्रदर्शक के समयसार विशेषांक अक्टूबर १९८९ से)

ग्रन्थाधिराज समयसार का मूल प्रतिपाद्य अर्थात् प्रतिपादन-केन्द्रबिन्दु परम पारिणामिकभाव रूप वह भगवान आत्मा ही है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन और जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यक् चारित्र है।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा को जिनागम में — विशेषकर समयसार में — ज्ञायकभाव, परमभाव, परमपदार्थ, परमार्थ, परमात्मा, कारणपरमात्मा, निजभाव, ज्ञानघन, त्रिकालीध्रुव, समय, समयसार, एकत्व-विभक्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ आदि नामों से अभिहित किया गया है।

अपने सम्पूर्ण प्रज्ञारूपी वैभव से इसी एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा समयसार के प्रारम्भ में की गई है।[१]

चेतनागुण से समृद्ध यह भगवान आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श है, अशब्द है; अतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है; अव्यक्त है, अतीन्द्रिय महापदार्थ है[२]। पर और पर्याय से पृथक् यह भगवान आत्मा मोह-ममता से रहित होने के कारण निर्मम है, स्वयंभू है, परमशुद्ध एवं स्वयंसिद्ध है।

---

१. समयसार, गाथा ५
२. समयसार, गाथा ४९

ज्ञानानन्दस्वभावी यह भगवान आत्मा न तो प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न मात्र ज्ञान है, न मात्र दर्शन है और न मात्र चारित्र ही है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एक अभेद अखण्ड पिण्ड है।[१] परमध्यान का ध्येय परमश्रद्धेय वह भगवान आत्मा न कर्मों से बद्ध है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह परमपदार्थ पर से पूर्णतः असंयुक्त, अपने में सम्पूर्णतः नियत, हानि-वृद्धि रहित, स्वयं से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।[२]

यह भगवान आत्मा न केवल समयसार का ही मूल प्रतिपाद्य है, समस्त जिनागम का भी मूल प्रतिपाद्य यही भगवान आत्मा है। यही कारण है कि इस भगवान आत्मा के जाननेवाले को सम्पूर्ण जिनशासन का ज्ञाता कहा है,[३] निश्चयश्रुतकेवली कहा है।[४]

समयसार की ५०वीं गाथा से ५५वीं गाथा तक कहा गया है कि इस भगवान आत्मा के वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है, रूप नहीं है, शरीर नहीं है, संस्थान नहीं है, संहनन नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है, प्रत्यय नहीं है, कर्म नहीं है, नोकर्म नहीं है, वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं है, स्पर्धक नहीं है, अध्यात्मस्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है, स्थितिबंधस्थान नहीं है, संक्लेशस्थान नहीं है, विशुद्धिस्थान नहीं है, संयमलब्धिस्थान नहीं है, जीवस्थान नहीं है, मार्गणास्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है।

यह स्वसंवेद्य भगवान आत्मा तो अनादि-अनन्त, अचल, चैतन्यमय, स्वयं अत्यन्त प्रकाशमान प्रगट परमज्योतिस्वरूप है।[५] जिसप्रकार घृत का संयोग देखकर मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कह दिया जाता है, उसीप्रकार वर्णादिभावों का संयोग देखकर जीव को वर्णादि वाला कह दिया जाता है; परन्तु जिसप्रकार घी का घड़ा कह देने मात्र से मिट्टी का घड़ा घृतमय नहीं

---

१. समयसार, गाथा ६-७
२. समयसार, गाथा १४
३. समयसार, गाथा १५
४. समयसार, गाथा ९
५. आत्मख्याति, कलश ४१

हो जाता, रहता तो वह मिट्टीमय ही है; उसीप्रकार वर्णादिभावों का संयोग देखकर जीव को वर्णादिमय कह दिया जाता है, पर कह देने मात्र से जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता, रहता तो वह चैतन्यमय ही है। भगवान आत्मा को वर्णादिवाला और गुणस्थानादिवाला कहना मिट्टी के घड़े में घी के घड़े जैसा ही व्यवहार है।[१] परमार्थ से यह भगवान आत्मा वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त इन सभी भावों से भिन्न ही है।

वर्णादिरूप परपदार्थों, रागादिरूप विकारी भावों एवं गुणादि के भेद-विकल्पों से भी भिन्न यह भगवान आत्मा ही आत्मार्थिजनों का एकमात्र आराध्य है और इस भगवान आत्मा की उत्कृष्ट आराधना ही परमसाध्य है तथा तारतमभाव से नित्य वृद्धिंगत आराधना ही परमाराधना है, साधकभाव है। इसीलिए कहा गया है —

"एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥[२]

जिन्हें आत्मसिद्धि अभीष्ट है, वे आत्मार्थी जन साध्यभाव एवं साधनभाव से, दो प्रकार से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही नित्य उपासना करें।"

तात्पर्य यह है कि उपासना करने योग्य तो यह ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का रसकंद निज भगवान आत्मा ही है। चाहे हम साध्यभाव से उपासना करें चाहे साधक भाव से, पर उपास्य तो एक मात्र निज भगवान आत्मा ही है, उपासना तो निज भगवान आत्मा की ही करनी है। पर की उपासना से बंधनों का नाश नहीं होता, बंधनों का नाश तो निज भगवान आत्मा की आराधना से ही होता है।

निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना, उसमें ही अपनापन स्थापित करना, उसमें ही जमना-रमना, उसका ही ध्यान धरना - यही निज भगवान आत्मा की उपासना है और इसे ही जिनागम में निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा गया है, यही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। अतः यह स्पष्ट है कि

---

१. आत्मख्याति, कलश ४०
२. आत्मख्याति, कलश १५

निज भगवान आत्मा की आराधना ही दु:खों से मुक्ति का सच्चा उपाय है। इसीलिए कहा गया है —

"एक देखिये, जानिए, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ॥[१]"

जिसे देखने, जानने और जिसमें रमने की प्रेरणा यहाँ दी गई है, वह एक निज भगवान आत्मा ही है और उसकी ही आराधना को यहाँ एकमात्र सिद्धि का उपाय बताया गया है। यह सिद्धि भी आत्मा की दु:खों से मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मोह का नाश कर अनन्त सुखी होकर अनन्तकाल तक जीने का उपाय बताते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी भी उसी भगवान आत्मा की शोध-खोज करने की, उसी का चिन्तन करने की, जन्म भर उसका ही परमरस पीने की प्रेरणा इसप्रकार देते हैं —

"बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसे हूं कै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यात कौ विधुंस होइ,
ग्यान कौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए ॥
वाही कौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौं ही भरि जनम परमरस पीजिए।
तजि भव-वास कौ विलास सविकाररूप,
अंत करि मोह कौ अनंतकाल जीजिए ॥[२]"

ज्ञान को जगाकर जिस हंस को खोजने की प्रेरणा उक्त छन्द में दी गई है, वह हंस निज भगवान आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसी का विचार, उसी का ध्यान, उसी में तल्लीनता ही सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं भी तो यही कहते हैं —

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥"

---

१. समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द २०
२. समयसार, नाटक, जीवद्वार, छन्द २४

ज्ञानस्वभावी इस भगवान आत्मा में ही नित्य रत रहो, इसमें ही संतुष्ट रहो, इससे ही पूर्ण तृप्त हो जावो, तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।''

पर व पर्यायों से विभक्त एवं अपने में अविभक्त इस एकत्व-विभक्त निज भगवान आत्मा को जाने-पहिचाने बिना ही जो साधक आत्मा की साधना करना चाहते हैं, वे न तो स्वयं ही सन्मार्ग में हैं और न अपने अनुयायियों को सन्मार्ग दिखा सकते हैं। इस परमसत्य की ओर आज किसी का भी ध्यान नहीं है। यही कारण है कि आज हम सभी व्यर्थ के विवादों में उलझकर रह गये हैं और निरन्तर उलझते ही जा रहे हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि समयसार का स्वाध्याय एवं पठन-पाठन के उपरान्त भी ऐसा हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हम समयसार का स्वाध्याय भी शुद्ध आत्महित की दृष्टि से न करके अपने पक्ष के पोषण के लिए ही करने लगे हैं। परिणाम यह होता है कि रुचि की प्रतिकूलता में समयसार का मूल प्रतिपाद्य जो भगवान आत्मा है, वह हमारी पकड़ में नहीं आ पाता और हम अन्य प्रकरणों में ही उलझ कर रह जाते हैं।

समयसार के मर्मज्ञ भी जो विवेचन प्रस्तुत करते हैं, उसे या तो हम सुनते-पढ़ते ही नहीं हैं, यदि प्रसंगवश सुनना-पढ़ना हो भी जाय तो अपने ही पूर्वाग्रहग्रस्त विकृत दृष्टिकोण से पढ़ने-सुनने के कारण उनका मूल प्रतिपाद्य हमारे ख्याल में नहीं आ पाता; अतः समयसार पढ़ने या सुनने से पूर्व दृष्टि की पवित्रता एवं परिणामों की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है।

विद्वत्ता का अभिमान और त्याग का बड़प्पन भी एक सशक्त कारण है, जो विनम्र चित्त से समयसार की चर्चा सुनने-पढ़ने में अवरोध उत्पन्न करता है। समयसार की मूल विषयवस्तु सभी के गले उतरे — इसके लिए समाज का शान्त वातावरण अपेक्षित है।

उक्त तथ्य शत-प्रतिशत सत्य होने पर भी आत्मार्थियों के लिए यह संभव नहीं है कि वे शांत सामाजिक वातावरण की प्रतीक्षा में अपने अमूल्य नरभव का एक पल भी व्यर्थ जाने दें, पर उनसे भी यह अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि सामाजिक वातावरण निर्मल करने में उनसे जो भी संभव हो, अवश्य करें।

यह बात तो समस्त जिनागम में सर्वत्र अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता; अत: सबसे पहले सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तदुपरान्त निर्मल और दृढ़ चारित्र धारण करना चाहिए; तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना सशक्त और स्पष्ट दिशानिर्देश समयसार में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र असंभव नहीं तो विरल अवश्य है।

समयसार की ही यह विशेषता है कि जिसमें दृष्टि के विषय को — सम्यग्दर्शन के विषयभूत भगवान आत्मा को — हाथ में रखे आंवले के समान दिखाने का सफल प्रयास किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकरूप, त्रिकाली ध्रुव, पर और पर्याय से अत्यन्त भिन्न, गुणभेद से भी भिन्न, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड, अनादि-अनन्त, ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन आना ही सम्यग्दर्शन है, अनुभवपूर्वक मात्र उसे ही निज जानना सम्यग्ज्ञान है और उपयोग को अन्यत्र सभी जगह से हटाकर मात्र उसमें ही लगा देना, उसी का ध्यान करना, उसी में जम जाना, रम जाना सम्यक्चारित्र है तथा यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सच्चा मुक्ति का मार्ग है।

इसी मुक्ति के मार्ग में अर्थात् भगवान आत्मा में ही स्थापित होने की, जमने-रमने की पावन प्रेरणा समयसार के समापन में दी गई है, जो इस प्रकार है —

"मोक्षपथ में थाप निज को, चेतकर निज ध्यान धर ।
निज में ही नित्य विहार कर, परद्रव्य में न विहार कर ॥ ४१२ ॥"

समयसार की मूल विषयवस्तु तक पहुँचने के लिए मात्र स्वाध्याय ही पर्याप्त नहीं हैं, मर्मज्ञों का मार्गदर्शन भी अत्यन्त आवश्यक है। सम्यक्दिशानिर्देश के बिना उसके मर्म तक पहुँच पाना असाध्य नहीं तो दु:साध्य अवश्य है। भटक जाने के अवसर भी कम नहीं हैं; अत: आत्मार्थियों के लिए स्वाध्याय के साथ-साथ सत्समागम भी अपेक्षित है।

देशनालब्धि में पढ़ने की अपेक्षा सुनने को अधिक महत्त्व दिया गया है; क्योंकि भाषा के साथ हाव-भावों से बहुत कुछ स्पष्टीकरण होता है। सर्वाधिक

महत्त्व तो अंतरंग आत्मरुचि का ही है। जबतक अन्तर में विषयों से अरुचि और निज भगवान आत्मा में सच्ची रुचि जाग्रत नहीं होगी, तबतक ऊपर-ऊपर से अध्ययन करने से भी कुछ होनेवाला नहीं है। बाह्य क्रियाकाण्ड से तो कुछ होता ही नहीं है।

यदि हम अन्य सभी प्रकार के विकल्पों का शमन कर विशुद्ध आत्महित की दृष्टि से त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को लक्ष्य में लेकर इस ग्रन्थाधिराज समयसार का गंभीरता से स्वाध्याय करें तो मेरा विश्वास है कि इसमें सर्वत्र ही वही निज भगवान आत्मा ही नजर आयेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी समारोह के इस पावन प्रसंग पर मैं सभी कुन्दकुन्द भक्तों से उनके ग्रन्थाधिराज समयसार का आत्महित की दृष्टि से गहरा अध्ययन करने का हार्दिक अनुरोध करता हूँ तथा भावना भाता हूँ कि सभी आत्मार्थियों को समयसार के मूल प्रतिपाद्य निज भगवान आत्मा का अनुभव-दर्शन, ज्ञान और तल्लीनता अवश्य प्राप्त हो। •

- भगवान आत्मा ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार है।
  गागर में सागर, पृष्ठ-२८
- भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से ही बँधता-छूटता है, उसे बंधन एवं मुक्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं है।
  परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-३३८
- निज भगवान आत्मा ही परमतत्त्व है और मुख्यतः उसका सम्यग्ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। **परमभावप्रकाशकनयचक्र**, पृष्ठ-३६८
- भगवान स्वरूप अपनी आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्ति रूपी कन्या वरमाला डालती है। **आत्मा ही है शरण**, पृष्ठ-२०२
- आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं।
  परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ-३२४
- अपनी आत्मा का ध्यान ही एकमात्र कर्तव्य है।
  गागर में सागर, पृष्ठ-५९

जैनदर्शन का तात्त्विक पक्ष : वस्तुस्वातन्त्र्य

जैनदर्शन में वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसमें वस्तुस्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसमें मात्र जन-जन की स्वतन्त्रता की ही चर्चा नहीं, अपितु प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतंत्रता का सतर्क व सशक्त प्रतिपादन हुआ है। उसमें 'स्वतंत्र होना है' की चर्चा नहीं 'स्वतंत्र है' की घोषणा की गई है। 'होना है' में स्वतंत्रता की नहीं, परतन्त्रता की स्वीकृति है, 'होना है' अर्थात् नहीं है। जो है उसे क्या होना? स्वभाव से प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र ही है। जहाँ होना है की चर्चा है, वह पर्याय की चर्चा है। जिसे स्वभाव की स्वतन्त्रता समझ में आती है, पकड़ में आती है, अनुभव में आती है; उसकी पर्याय में स्वतन्त्रता प्रकट होती है अर्थात् उसकी स्वतन्त्र पर्याय प्रकट होती है।

वस्तुत: पर्याय भी परतन्त्र नहीं है। स्वभाव की स्वतन्त्रता की अजानकारी ही पर्याय की परतन्त्रता है। पर्याय के विकार का कारण 'मैं परतन्त्र हूँ' ऐसी मान्यता है, न कि परपदार्थ। स्वभावपर्याय को तो परतन्त्र कोई नहीं मानता, पर विकारीपर्याय को परतन्त्र कहा जाता है। उसकी परतन्त्रता का अर्थ मात्र इतना है कि वह परलक्ष्य से उत्पन्न हुई है। पर के कारण किसी द्रव्य की कोई पर्याय उत्पन्न नहीं होती।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र एवं परिणमनशील है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-धर्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है। यहाँ तक कि परमेश्वर (भगवान) भी उसकी सत्ता एवं परिणमन का कर्त्ता-धर्ता नहीं है। दूसरों के परिणमन अर्थात् कार्य में हस्तक्षेप की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दु:ख का कारण है; क्योंकि सब जीवों के

जीवन-मरण, सुख-दु:ख स्वयंकृत कर्म के फल हैं। एक दूसरे को एक-दूसरे के दु:ख-सुख और जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञान है।

कहा भी है —

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय -
कर्मोदयान्मरण जीवित दु:ख सौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरण जीवित दु:ख सौख्यम् ॥[1]

यदि एक प्राणी को दूसरे के दु:ख-सुख और जीवन-मरण का कर्ता माना जाए तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल सावित होंगे; क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति यदि वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या वह हमें सुखी कर सकता है? इसीप्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति, यदि वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ है; क्योंकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नहीं? और यदि यह सही है कि हमें अपने बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है।

इसी बात को अमितगति आचार्य ने इसप्रकार व्यक्त किया है —

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते-शुभाशुभं ।
परेण.दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेव मनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीं ॥[2]

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि परद्रव्य और आत्मतत्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है।[3]

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥

---

१. आचार्य अमृतचन्द : समयसार कलश - १६८
२. भावना द्वात्रिंशतिका : सामाजिक पाठ, छन्द - ३०-३१
३. आचार्य अमृतचन्द्र : समयसार कलश - २००

विभिन्न द्रव्यों के बीच सर्वप्रकार के सम्बन्ध का निषेध ही वस्तुत: पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा है। पर के साथ किसी भी प्रकार के संबंध की स्वीकृति परतन्त्रता को ही बताती है।

अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतन्त्रता का सूचक है। यही कारण है कि जैनदर्शन में कर्त्तावाद का स्पष्ट निषेध किया है। कर्त्तावाद के निषेध का तात्पर्य मात्र इतना नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है; अपितु यह भी है, कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्ता नहीं है। किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्ता मानना एक कर्त्तावाद है तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्ता मानना अनेक कर्त्तावाद।

जब-जब कर्त्तावाद या अकर्त्तावाद की चर्चा चलती है तब-तब प्राय: यही समझा जाता है कि जो ईश्वर को जगत का कर्त्ता माने, वह कर्त्तावादी है और जो ईश्वर को जगत का कर्त्ता न माने, वह अकर्तावादी। चूंकि जैनदर्शन ईश्वर को जगत का कर्त्ता नहीं मानता; अत: वह अकर्त्तावादी दर्शन है।

जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र ईश्वरवाद के निषेध तक ही सीमित नहीं; किन्तु समस्त परकर्तृत्व के निषेध एवं स्वकर्तृत्व के समर्थनरूप है। अकर्त्तावाद का अर्थ ईश्वरकर्तृत्व का निषेध तो है, परमात्र कर्तृत्व के निषेध तक भी सीमित नहीं, स्वयंकर्तृत्व पर आधारित है। अकर्त्तावाद यानी स्वयंकर्त्तावाद।

प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वयं कर्त्ता है। उसके परिणमन में पर का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। स्वयंकर्तृत्व होने पर भी उसका भार जैनदर्शन को स्वीकार नहीं; क्योंकि वह सब सहज स्वभावगत परिणमन है। यही कारण है कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में ईश्वरवाद के निषेध की तो चर्चा तक ही नहीं की और सम्पूर्ण बल पर कर्तृत्व के निषेध एवं ज्ञानी को विकार के भी कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करने पर दिया। जो समस्त कर्तृत्व के भार से मुक्त हो, उसे ही ज्ञानी कहा है।

कुन्दकुन्द की समस्या अपने शिष्यों को ईश्वरवाद से उभारने की नहीं, वरन् मान्यता में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं एक छोटा-मोटा ईश्वर बना हुआ है और

माने बैठा है कि "मैं अपने कुटुम्ब, परिवार, देश व समाज को पालता हूँ, उन्हें सुखी करता हूँ और शत्रु आदि को मारता हूँ व दु:खी करता हूँ अथवा मैं भी दूसरे के द्वारा सुखी-दु:खी किया जाता हूँ या मारा-बचाया जाता हूँ।" — इस मिथ्या मान्यता से बचाने की थी। अत: उन्होंने कर्तावाद संबंधी उक्त मान्यता का कठोरता से निषेध किया है। उन्हीं के शब्दों में :

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥
जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद सुहिदे करोमि सत्ते ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥
दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जो एसा मूढमदी णिरत्थया सा ह दे मिच्छा ॥ २६६ ॥[१]

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और परजीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं (पर) जीवों को दु:खी-सुखी करता हूँ, वह मूढ (मोही) है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत माननेवाला ज्ञानी है।

मैं जीवों को दु:खी-सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छुड़ाता हूँ ऐसी जो यह तेरी मूढ़मति (मोहितबुद्धि) है; वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

उनका अकर्तृत्ववाद 'मात्र ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है' के निषेधात्मक मार्ग तक सीमित है। वह भी इसलिए कि वे जैन हैं और जैनदर्शन ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानता है, अत: वे भी नहीं मानते। ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानने पर भी स्वयं-कर्तृत्व उनकी समझ में नहीं आता।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द समयसार, बंध अधिकार

पर के साथ आत्मा का कारकता के संबंध का निषेध प्रवचनसार की "तत्वप्रदीपिका" टीका में इसप्रकार किया है —

अतो न निश्चयतः परेणसहात्मनः कारकत्व संबंधोऽस्ति ।

जीव कर्म का और कर्म जीव का कर्त्ता नहीं है। इस बात को पंचास्तिकाय में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

कुव्वं समं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६१॥
कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥
कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देहि फलं ॥६३॥

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का नहीं। ऐसा जिन वचन जानना चाहिए।

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और उसीप्रकार जीव भी कर्मस्वभाव भाव से अपने को करता है।

यदि कर्म कर्म को और आत्मा आत्मा को करे तो फिर कर्म आत्मा को फल क्यों देगा और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा?

जहाँ कर्त्तावादी दार्शनिकों के सामने जगत ईश्वरकृत होने से सादि स्वीकार किया गया है, वहाँ अकर्तावादी या स्वयंकर्त्तावादी जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व अनादिअनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयं सिद्ध है। विश्व का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन भी कभी-कभी नहीं, निरंतर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील। यह नित्यानित्यात्मक है। इसकी नित्यता स्वतः सिद्ध है और परिवर्तन स्वभावगत धर्म है।

नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है। सत् उत्पाद-व्यय ध्रौव्य से युक्त होता है।[१] उत्पाद और व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और

१. आचार्य उमा स्वामी : तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३०

ध्रौव्य नित्यता का। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। अत: वह द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवान होता है।[1] जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और समस्त अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं। तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा जाता है

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं जिन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है — सामान्यगुण और विशेषगुण। सामान्यगुण सब द्रव्यों में समान रूप से छह पाये जाते हैं और विशेषगुण अपने-अपने द्रव्य में पृथक्-पृथक् होते हैं।

सामान्यगुण भी अनंत होते हैं और विशेष गुण भी अनंत। अनन्त गुणों का कथन तो सम्भव नहीं है। अत: सामान्य गुणों का वर्णन शास्त्रों में इसप्रकार मिलता है —

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने अस्तित्व गुण के कारण है न कि पर के कारण। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में एक द्रव्यत्व गुण भी है, जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमित होता है; उसे अपने परिणमन में पर से सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती है। अत: कोई भी अपने परिणमन में परमुखापेक्षी नहीं है। यही उसकी स्वतन्त्रता का आधार है। अस्तित्व गुण प्रत्येक द्रव्य की सत्ता का आधार है और द्रव्यत्वगुण परिणमन का। अगुरुलघुत्वगुण के कारण एक द्रव्य का दूसरे में प्रवेश संभव नहीं है।

सद्भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है। कहा भी है — **'भवत्यभावोऽपि च वस्तु धर्मा:'** अभाव चार प्रकार का माना गया है — प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव होने के कारण भी उसकी स्वतंत्रता सदाकाल अखण्डित रहती है जहाँ अत्यन्ताभाव द्रव्यों की स्वतंत्रता की दुंदुभि बजाते हैं।

जैनदर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के आधारभूत इन सब विषयों की चर्चा जैनदर्शन में विस्तार से की गई है। इनकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ न तो संभव है और न अपेक्षित। जिन्हें जिज्ञासा हो, जिन्हें जैनदर्शन का हार्द जानना हो, उन्हें उसका गंभीर अध्ययन करना चाहिए। ●

१. आचार्य उमा स्वामी : तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८

दु:खनिवृत्ति और सुखप्राप्ति का सहज उपाय

(श्री कानजी स्वामी अभिनन्दन-ग्रन्थ, मई १९६४ में से)

दु:ख का कारण क्या है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ मनीषी कर्मों (द्रव्यकर्मों) को दु:ख का कारण मानते हैं और कुछ मनीषी जीव और कर्मों के संयोग को। इसप्रकार आज तक इस जीव ने पर पदार्थों को ही दु:ख का कारण माना है; किन्तु अपने अज्ञान के कारण परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले संयोगीभाव यथार्थ में दु:ख परम्परा के बीज हैं, इस ओर इसका लक्ष्य नहीं गया। इसप्रकार जब इसने दु:ख के यथार्थ कारण को नहीं जाना तो फिर अनन्त आनन्द का यथार्थ कारण जो आत्मस्वभाव का आलम्बन, उस पर इसकी दृष्टि जाना कैसे संभव है?

संसारी जीव संयोग में ही अपने विकल्पानुसार अनुकूल-प्रतिकूल भेद कर अनुकूल संयोग को शुभकर्मों के उदय में प्राप्त हुए इष्ट जैसे प्रतीत होनेवाले स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, धान्य, शरीर और नीरोगता आदि को सुखदायक और प्रतिकूल संयोग को अशुभ कर्मों के उदय में प्राप्त हुए अनिष्ट जैसे प्रतीत होनेवाले स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, शरीर, सरोगता आदि को दुखदायक मानता आ रहा है। असंयोगी त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर इसका लक्ष्य एक बार भी नहीं गया। वास्तव में देखा जाय तो न तो परपदार्थ ही सुख-दु:ख के कारण हैं और न परपदार्थों का संयोग ही, क्योंकि इस लोक में जहाँ इस जीव का वहीं अन्य अनंत पदार्थों का भी अस्तित्व है। ऐसी अवस्था में यदि परपदार्थ या उनका संयोग सुख-दु:ख के कारण माने जाँय तो इसके दु:ख का कभी भी अन्त होना सम्भव नहीं है। और संसार में जिसे यह जीव सुख मानता है,

वह तो मृगमरीचिका है। तत्त्वत: देखा जाय तो वह दुख ही है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्री प्रवचनसारजी में कहा भी है —

सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला सुख परसंयुक्त है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बन्ध का कारण है और विषम है; अत: वह दु:ख ही है।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में आत्मा के वास्तविक सुख के कारणों का विचार करना है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढाली की तृतीय ढाल के प्रारम्भ में लिखते हैं —

आतम कौ हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए ।
आकुलता शिवमाहिं न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए ॥

अभिप्राय यह है कि यदि यह जीव अपने हितस्वरूप यथार्थ सुख को प्राप्त करना चाहता है तो उसे आकुलता के अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करने का उद्यम करना होगा। यह जीव चाहे कि मुझ में आकुलता भी रही आवे और यथार्थ सुख की प्राप्ति भी हो जाय, यह त्रिकाल में सम्भव नहीं है; क्योंकि आकुलता वास्तव में दु:ख का कारण न होकर स्वयं दुखस्वरूप है। अतएव विचार यह करना है कि यह जीव अपनी पर्यायपरम्परा में से आकुलता का अभाव कैसे करे? आगे इसी का विचार करते हैं —

यह तो सुविदित सत्य है कि इस जीव को मुक्ति की प्राप्ति होने पर वहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का किसी प्रकार का संयोग नहीं रहता। मात्र आत्मा आत्मस्थित होकर अनन्त सुख का भोग करता है। इसलिए इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन कारणों से द्रव्य कर्म और नोकर्मों का संयोग होकर आत्मा में दु:खपरम्परा की उत्पत्ति होती है; उनसे लक्ष्य हटा कर इसे उनके विरोधी कारणों को अपने लक्ष्य में लेना होगा। अब विचार कीजिए, वह कारण कर्म और नोकर्म या इनका संयोग तो हो नहीं सकता; क्योंकि वे पर हैं। इनसे सुखभाव की उत्पत्ति होना सर्वथा असम्भव है। वह कारण, कर्म और नोकर्म को निमित्त कर जीव में उत्पन्न हुए भाव भी नहीं हो सकते; क्योंकि

वे स्वयं आकुलतामय हैं और आकुलता का नाम ही दु:ख है। तो फिर वह कारण क्या है?

प्रश्न मार्मिक है। समाधान यह है जो आत्मा का स्वभाव अनुत्पन्न-अविनष्ट स्वभाववाला होने से नित्य है, विभाव पर्यायस्वरूप न होने के कारण कर्मों के संयोग से रहित है, अतएव शुद्ध है, द्रव्य की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहने के कारण त्रिकाली है और भेदव्यवहार से रहित होने के कारण एक है; ऐसा जो अपना आत्मस्वभाव है, जो कि आत्मा की निज सम्पत्ति है और जो अनन्त सुख का भण्डार है, उसे यदि अपने अनुभव का विषय बनाया जाय तो जिन कारणों से दु:ख परम्परा की उत्पत्ति होती है, उनका अभाव होकर निराकुलतारूप अनन्त सुख की सृष्टि हो सकती है। संसारी आत्मा के लिए सर्व समाधानकारक यदि कोई सारभूत पदार्थ हो सकता है तो उक्त प्रकार का आत्मस्वभाव ही, अन्य नहीं; — यह एकान्त सत्य है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं —

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेपप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १८६॥

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ — अनुभवता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ — अनुभवता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि जो आत्मा की अशुद्ध-विभाव परिणति को अपनी अनुभूति का विषय न बना कर मात्र त्रिकाली अभेदरूप एक ज्ञायकभाव को अपनी अनुभूति का विषय बनाता है; उसके राग, द्वेष और मोहरूप भावास्रव की उत्पत्ति न होकर वीतरागस्वरूप सम्यग्दर्शन आदि स्वभावपर्याय की ही उत्पत्ति होती है।

— इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र क्या कहते हैं; यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए —

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७॥

यदि यह आत्मा किसी भी प्रकार से (त्रिकाली आत्मस्वभावोन्मुख पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञानद्वारा शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव करता है तो यह, जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है अर्थात जिसकी प्रति समय आत्मस्थिरता वृद्धिंगत होती जाती है; ऐसे आत्मा को राग-द्वेष-मोहरूप परपरिणति का निरोध होते जाने के कारण शुद्ध ही प्राप्त करता है।

बात यह है कि विवक्षित को मुख्य और अविवक्षित को गौण करने से ही इष्टार्थ की सिद्धि होती है; ऐसा नियम है। ऐसी अवस्था में विचार यह करना है कि प्रकृत में विवक्षित कार्य क्या है और उसकी सिद्धि किसको मुख्य करने से तथा किसको गौण करने से हो सकती है। यह तो सुविदित सत्य है कि यह जीव अनादि काल से स्वयं को राग-द्वेष-मोहरूप स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप तथा नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवरूप अनुभव करता आ रहा है और इस रूप आत्मा को अनुभव करने से यह अपने में पुन: पुन: उन्हीं भावों की सृष्टि करता आ रहा है। आगामी काल में भी यदि यह अपने आत्मा को इन्हींरूप अनुभव करेगा तो इन्हीं भावों की सृष्टि होगी। किन्तु यह इन भावों से मुक्ति चाहता है, क्योंकि ये आकुलतामय होने से स्वयं दु:खरूप हैं। अतएव वर्तमान में आत्मा की परिणति इन स्वरूप होने पर भी इन्हें अपनी विवेचक बुद्धिद्वारा गौण करना होगा और जिससे इन भावों की पुन: उत्पत्ति न होकर वीतरागस्वरूप सम्यग्दर्शनादि भावों की उत्पत्ति होने लगे ऐसे अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव को मुख्य कर तद्रूप आत्मा की अनुभूति प्रगट करनी होगी। स्पष्ट है कि ऐसा करने से इसके भाव संसाररूप पर्याय की सृष्टि तो रुक ही जावेगी। साथ ही भावसंसार को निमित्त कर जो कर्म और नोकर्म का संयोग होता है वह भी यथा सम्भव नहीं होगा और इसप्रकार यह आत्मा, क्रमश: आत्मोत्थ, स्वाश्रयी अविच्छिन्न, समरूप और अतीन्द्रिय परमसुख के निधान आत्मस्वरूप मुक्ति का भागी हो जायेगा।

यह है संसारी आत्मा को संसार की परिपाटीरूप दु:ख से छुड़ाकर सुखस्वरूप मुक्ति में स्थापित करने का एकमात्र सहज उपाय। इससे सिद्ध है कि इस उपाय का जो अवलम्बन लेंगे, उनके जीवन में व्यवहार गौण होकर निश्चयस्वरूप एकमात्र परमपारिणामिक भाव का आश्रय ही मुख्य होगा। ●

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन भी कहा जाता है। यहाँ दर्शन शब्द का प्रयोग मत, सिद्धान्त या देखने के अर्थ में न होकर श्रद्धान, विश्वास, प्रतीति के अर्थ में हुआ है। सम्यक्त्व शब्द का अर्थ सत्य और मिथ्या शब्द का अर्थ असत्य होता है। अत: सम्यग्दर्शन का अर्थ सत्य श्रद्धान, सत्य प्रतीति या सत्य विश्वास होता है। इसीप्रकार मिथ्यादर्शन का अर्थ असत्य श्रद्धान, असत्य प्रतीति या असत्य विश्वास होगा।

यह श्रद्धान, विश्वास या प्रतीति समस्त जगत से नहीं, अपितु प्रयोजनभूत तत्त्वों से संबंध रखती है। आत्मा का मूल प्रयोजन दु:खों से मुक्त होना है, अत: जिनकी सम्यक्श्रद्धा बिना दु:ख दूर न हो सके, उन वास्तविकताओं को ही प्रयोजनभूततत्त्व कहते हैं। वे सात या नौ प्रकार के कहे गये हैं, पर उनमें सर्व प्रधान आत्मतत्त्व है, जिसकी अनुभूति बिना सम्यग्दर्शन संभव नहीं है।

शरीरादि परपदार्थों एवं रागादि विकारों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति, प्रतीति ही वास्तविक सम्यक्त्व है, इसके बिना जो कुछ भी श्रद्धान है, वह सब मिथ्यात्व है।

असीम निशंकता, भोगों के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओं में समताभाव, वस्तुस्वरूप की पैनी पकड़, पर के दोषों के प्रति उपेक्षाभाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिंगतदशा, विश्वासों की दृढ़ता, परिणामों की स्थिरता, गुणों और गुणियों में अनुराग, आत्मलीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना; ये विशेषताएँ सम्यग्दर्शन सम्पन्न आत्मा में सहज ही प्रगट हो जाती हैं।

जैनदर्शन में सम्यक्त्व का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्ति महल की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना संभव नहीं है।[१] जिसप्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम संभव नहीं हैं; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना संभव नहीं है।[२] सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। जो इससे भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट ही है; उसको मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।[३]

अधिक क्या कहें? जो महान पुरुष अतीतकाल में मोक्ष गए हैं, अभी जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे; यह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।[४]

आचार्य समन्तभद्र ने तो यहाँ तक कहा है कि प्राणियों को इस जगत में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और मिथ्यादर्शन के समान अहितकारी कोई अन्य नहीं है।[५]

अत: जैसे भी हो, प्रत्येक सुखाभिलाषी व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। ●

---

१. छहढाला : पं. दौलतराम, तृतीय ढाल, छन्द १७
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, श्लोक ३२
३. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड (दर्शनपाहुड) गाथा ३
४. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड) गाथा ८८
५. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ३४

श्रद्धा

- ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है। **आत्मा ही है शरण**, पृष्ठ-७८
- आत्मानुभूति (निश्चय) पूर्वक, शास्त्राधार पर की गई तर्क-सम्मत श्रद्धा ही सच्ची व्यवहार श्रद्धा है। **मैं कौन हूँ**, पृष्ठ-१५
- श्रद्धा ही आचरण को दिशा प्रदान करती है। **आत्मा ही है शरण**, पृष्ठ-११२

विवेके हि न रौद्रता : विवेकी कभी क्रुद्ध नहीं होता

वर्तमान भारतीय भाषाओं की जननी देववाणी अर्थात् संस्कृत भाषा में हमारे पूर्वजों के अनुभव निबद्ध हैं, हमारी सभ्यता और संस्कृति की निधि निहित है और हमारा पौराणिक इतिहास सुरक्षित है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित **त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र** संस्कृत भाषा का एक ऐसा महाकाव्य है, जिसमें त्रेषठ शलाका के महापुरुषों का चरित्र विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन मान्यतानुसार २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण-इन ६३ महापुरुषों को शलाका पुरुष कहते हैं। शलाका पुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष। उक्त ६३ शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र ही समस्त जैन पुराणों का एकमात्र वर्ण्य विषय रहता है। आचार्य हेमचन्द्र का यह पुराण एक तरह से समस्त जैन पुराणों को अपने में समेट लेने का प्रयास है। इसीप्रकार का एक और महान ग्रन्थ प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन का महापुराण भी है।

यद्यपि **त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र** में आचार्य हेमचन्द्र का उद्देश्य उसमें यथास्थान प्रसंगानुसार अनेक लौकिक और पारलौकिक विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रगट हुए हैं। यथास्थान सुन्दर-सुन्दर सूक्तियाँ भी पिरो दी गई हैं, जिनमें बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त और जीवनोपयोगी नीतियाँ सहज ही प्रतिपादित हो गई हैं। उनमें एक महत्त्वपूर्ण सूक्ति यह भी है — **'विवेके हि न रौद्रता।'** जिसका अर्थ है — विवेक प्राप्त होने पर रौद्र भाव नहीं रहता। भाव यह है कि विवेकी कभी क्रुद्ध नहीं होता।

प्रत्येक संसारी प्राणी में क्रोधादि मनोविकार पाये जाते हैं। वे मनोविकार स्वयं ही दु:खस्वरूप हैं और दु:ख के कारण भी हैं। यद्यपि क्रोधादि विकारों

की उत्पत्ति जड़ पदार्थों में न होकर केवल आत्मा में ही होती है; तथापि वे विकार आत्मा के स्वभाव नहीं। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव पदार्थ है और क्रोधादि विकार मृगी के वेग की भाँति उतार-चढ़ाव वाले अध्रुव स्वभावी हैं। जिसप्रकार काई यद्यपि जल में उत्पन्न होती है, तथापि वह जल नहीं है, जल का स्वभाव भी नहीं है, जल का मैल है। उसीप्रकार क्रोधादि विकार यद्यपि आत्मा में उत्पन्न होते हैं, तथापि वे आत्मा नहीं, आत्मा के स्वभाव भी नहीं; आत्मा के मैल हैं, विकार हैं। उनके सद्भाव से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, अपितु हानि होती है।

आचार्य गुणभद्र अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आत्मानुशासन में स्पष्ट लिखते हैं कि —

''क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २१६ ॥''

क्रोधादि के उदय में किसकी कार्य हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की होती है। इनसे सबको नुकसान ही होता है, लाभ नहीं। क्रोधावेश को प्राप्त व्यक्ति की परिणति की चर्चा करते हुए महापण्डित टोडरमल अपने ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक में आज से २१० वर्ष पूर्व लिखते हैं कि —

''जब क्रोध कषाय उत्पन्न होती है; तब दूसरों का बुरा करने की इच्छा होती है और उसके लिए अनेक उपाय विचारता है, गालियाँ देने लगता है, हाथों, पैरों और शस्त्र-पाषाणादि से मारपीट करने लगता है। स्वयं अनेक कष्ट सहकर धनादि खर्च करके यहाँ तक मरणादि द्वारा अपना ही नुकसान करके औरों का बुरा करने का यत्न करता है। अपना कोई भी लाभ न हो तो भी अन्य का बुरा करना चाहता है। कोई पूज्य पुरुष भी बीच में आवे तो उसे भी मारने लगता है। कोई विवेक नहीं रहता। यदि फिर भी उसका बुरा न हो तो स्वयं बहुत दुःखी होता है, अपने ही अंगों का घात करने लगता है। यहाँ तक कि विषादि खाकर मर तक जाता है।''

क्रोधादि विकारों के वशीभूत अविवेकी व्यक्ति अपना नुकसान तो करता ही है, चाहे उस दूसरे का नुकसान हो या न हो। जिस पर क्रोध किया जा रहा है, उसका लाभ-हानि तो उसके पुण्य-पाप के आधीन है।

कहा भी है :—

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्य न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥ ६ ॥

विवेक रहित क्रोध से अन्धा व्यक्ति अपने को तो जला ही लेता है, दूसरों को जलावे या नहीं। जैसे — कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को जलते हुए अंगारे से मारने की कोशिश करे तो पहिले वह जलेगा ही; क्योंकि उसने हाथ में अंगारा उठाया है। फेंकने पर दूसरा बच भी सकता है।

भले-बुरे संयोगों में निमित्त तो अपने द्वारा पूर्व में किये गये कर्म हैं। अविवेकी दुष्कर्म करना तो छोड़ता नहीं और प्राप्त संयोगों पर क्रोध करता है। यह तो ऐसा है जैसे रोगी उन कुपथ्यों का सेवन तो छोड़े नहीं, जिनके कारण रोग हुआ है और रोग बताने वाले वैद्य को भला-बुरा कहे।

सारी दुनिया में जितने दुष्कर्म होते हैं, उन सबके मूल में कोई न कोई क्रोधादिरूप रौद्र भाव ही रहता है। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण ही सैकड़ों घर-परिवार टूटते देखे जाते हैं। विनाश का मूल कारण एकमात्र क्रोधभाव ही देखा जाता है। अधिक क्या कहें — जगत में जो कुछ भी बुरा नजर आता है; वह सब अविवेक से उत्पन्न क्रोधादि भावों का ही परिणाम है और जो कुछ भी अच्छा दिखाई देता है; वह सब विवेक का कार्य है।

जैनाचार्यों के अनुसार क्रोधादि मनोविकारों से आत्मा को भिन्न जानना ही विवेक है। विवेक का लौकिक अर्थ इससे कुछ भिन्न भी हो सकता है, पर वहाँ भी हिताहित के ज्ञान को ही विवेक कहा जाता है। सत्य-असत्य और अच्छे-बुरे की पहिचान ही विवेक है।

उक्त विवेक के होने पर क्रोधादिक उत्पन्न क्यों नहीं होंगे ? मूल विचारणीय प्रश्न तो यह है।

जब हम क्रोधादि को आत्मा से भिन्न, आत्मा का अहित करनेवाले एवं छोड़ने योग्य मानेंगे तो फिर हम निश्चित रूप से उन्हें कम करेंगे। क्रोधादि भाव जब भी उत्पन्न होते हैं, परलक्ष्य से होते है। तात्पर्य यह है कि हमें जब

क्रोध आता है तो, वह किसी न किसी पर आता है। उस समय हमारे दिमाग में कोई न कोई परपदार्थ रहता है, जिसके सम्बन्ध में हम सोचते हैं कि इसने मेरा बुरा किया है या यह मेरा बुरा करेगा या करना चाहता है। उक्त प्रक्रिया बिना क्रोधादिक की उत्पत्ति संभव नहीं है।

इस विवेक के उत्पन्न होने पर कि कोई परपदार्थ मेरा भला-बुरा नहीं करता। मेरे भले-बुरे होने का उत्तरदायित्व मुझ पर या मेरे द्वारा कृत कर्मों पर है तो क्रोधादि की उत्पत्ति सहज ही नहीं होगी, यही कारण है कि विवेकी कभी क्रुद्ध नहीं होता।

आत्मा का हित तो आत्मा को सही रूप में जानने एवं क्रोधादि विकारी भावों के न होने में है। जबतक हमारा ध्यान पर की ओर रहेगा और हम पर को ही अपने भले-बुरे का कर्त्ता मानते रहेंगे, तबतक क्रोधादि विकार उत्पन्न होते रहेंगे।

वस्तुतः वास्तविक तत्वज्ञान ही विवेक है। क्रोधादि का अभाव या कम करने का उपाय एकमात्र तत्वज्ञान का अभ्यास ही है। वादीभसिंह सूरि अपने लोकप्रिय ग्रन्थ क्षत्रचूड़ामणि में लिखते हैं —

"तत्वज्ञानजलं नो चेत् क्रोधाग्नि केन शाम्यति ।

यदि तत्वज्ञान रूपी जल न हो तो क्रोध रूपी अग्नि किसके द्वारा शान्त होगी।"

आत्मा एक अविनाशी पदार्थ है और क्रोधादिभाव क्षणिक आवेश मात्र हैं। उनके नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। वे छोड़ने लायक ही हैं, करने योग्य नहीं। — ऐसा विवेक जिनके हृदय में उत्पन्न हो जाता है, उन विवेकी महापुरुषों के हृदय में या तो क्रोधादिभाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं और हों भी तो वैसे नहीं होते जैसे अविवेकी के पाये जाते हैं। विवेकी का विकार क्षणिक होता है; क्योंकि विवेक विकार को टिकने नहीं देता है। वह विवेक ही नहीं, जिसके रहते आत्मा क्रोधादि के आधीन हो जावे। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचंद्र कहते हैं —

''विवेकी कस्तयत्भानं, क्रोधादीय वशं नयेत ।''

वह कैसा विवेकी है जो क्रोधादि के वशीभूत हो जाता है। अर्थात् विवेकी कभी भी क्रोधादि के वशीभूत नहीं होते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि क्रोधादि विकारों के बाह्य निमित्त मिलते हैं, तब क्रोधादि की उत्पत्ति होती है; अत: क्रोधादि का अभाव करने के लिए बाह्य निमित्तों को मेटना चाहिए, उनसे बचना चाहिए। पर यह विचार सत्य नहीं है; क्योंकि एक तो उनके कारण क्रोधादि उत्पन्न होते नहीं हैं। क्रोधादि की उत्पत्ति का कारण अपने अंतरंग में विद्यमान अविवेक है, न कि बाह्य पदार्थ। दूसरे बाह्य संयोगों का हटाना संभव भी नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति कहे कि मुझे वैसे तो काम विकार की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु किसी महिला को देखने पर हो जाती है; अत: मेरे सामने किसी महिला को नहीं आने देना चाहिए। तो बताइए क्या यह संभव है कि दुनिया से महिलाओं को हटा दिया जाए। उसके घर में भी उसकी माँ-बहिनें तो रहेंगी ही। अपना विकार दूर करने के लिए अपने में विवेक उत्पन्न करना चाहिए, दुनिया में परिवर्तन नहीं।

अत: आचार्य हेमचन्द्र का यह कहना पूर्ण सत्य है कि क्रोधादि विकार का कारण अविवेक है और विवेक ही ऐसा साधन है कि जिससे विकार पर अंकुश ही नहीं लगाया जा सकता; वरन् उसका अभाव भी किया जा सकता है। •

क्षमा

- अनन्त संसार का अनुबन्ध करने वाला अनन्तानुबंधी क्रोध आत्मा के प्रति अरुचि का नाम है। **धर्म के दशलक्षण**, पृष्ठ-२२
- विरोधियों की एक आदत होती है - विद्यमान गुणों की चर्चा तक न करना और अविधमान अवगुणों की बढ़ा-चढ़ाकर चर्चा करना। **धर्म के दशलक्षण**, पृष्ठ-२५
- धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है, युद्धवीर नहीं। **धर्म के दशलक्षण**, पृष्ठ-१८३

जरा गंभीरता से विचार करें

अहिंसा प्रधान जैनधर्म में जीव दया का बड़ा भारी महत्त्व है। जीव दया जैनाचार का मूल आधार है। आज हमारे जीवन से दया धर्म उठता जा रहा है। अन्य जीवों की बात तो बहुत दूर आज तो हम उन प्राणियों की भी रक्षा नहीं कर पाते हैं, जिनका हमारे सात्त्विक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। जीवदया की मर्यादा मात्र यहाँ तक ही सीमित नहीं है कि हम उन्हें मारें नहीं, सताएँ नहीं; अपितु उनकी सुरक्षा करना भी जीवदया में आती है।

आज तो गाय जैसे दुधारू पशुओं की भी बड़ी निर्दयता से हत्याएँ हो रही हैं। अकालादि के कारण भी हजारों की संख्या में पशुधन नष्ट हो रहा है।

हम जन्म देनेवाली माँ का दूध तो जीवन के आरंभिक दिनों में आठ-दस माह ही पीते हैं; पर उसका ऋण हम जीवन भर माँ-बाप की सेवा करके भी नहीं चुका पाते। हम जीवन भर उनके कृतज्ञ बने रहते हैं और बने रहना चाहिए; पर एक बात की ओर हमारा ध्यान ही नहीं है कि गोमाता का दूध तो हम जीवन भर पीते हैं। उसके प्रति हमारा भी कुछ कर्त्तव्य है या नहीं ? जरा गंभीरता से विचार कीजिए।

अरे भाई! माँ का दूध तो अकेले अबोध बालक ही पीतें हैं; पर गाय माता का दूध तो बालक, वृद्ध सभी पीते हैं; हम सब प्रतिदिन ही गाय माता के दूध, दही, घी का उपयोग करते हैं। उनकी सुरक्षा करना हम सभी का परमकर्त्तव्य है? यह कहाँ का न्याय है कि जब तक वह दूध दे, हम उसका दूध पीवें और

जब वह दूध देना बन्द कर दे, तो उसे मार कर खा जावें; उनके बच्चों को जो हमारे भाई-बहिन जैसे ही हैं; उन्हें बचपन और जवानी में ही मार कर खा जावें ? अब तो दुधारू पशु भी काटे जा रहे हैं।

अत: हम सभी अहिंसा प्रेमी शाकाहारी भाई-बहिनों का परमकर्त्तव्य है कि जीवन की बाजी लगाकर इस दुष्कृत्य को रोकें, इस दिशा में काम करनेवालों को पूरा सहयोग दें; हम से जो कुछ भी बन सके अवश्य करें। अधिकतम गोशालायें खोलकर पशुधन की रक्षा करें। अरे भाई ! इस काम को पूरी शक्ति से उठा लेने में ही हम सब की भलाई है। •

- शाकाहार को उसके व्यापक अर्थों में देखना होगा, प्रचारित करना होगा। गेहूँ, चावल आदि अनाज; आम, अमरूद, सेब, संतरा आदि फल और लौकी आदि सात्विक भक्ष्य सब्जियाँ भी शाकाहार में आती हैं। शाकाहार के रूप में इन्हें ही प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

  शाकाहार, पृष्ठ-६

- शाकाहार शब्द में मांसाहार का निषेध तो हो जाता है, पर मदिरापान का निषेध नहीं होता है। मदिरापान भी एक ऐसी बुराई है कि जिसमें अनन्त जीवों का घात तो होता ही है; नशाकारक होने से मदिरा विवेक को नष्ट करती है, बुद्धि में भ्रम पैदा करती है, स्वास्थ्य को खराब करती है और पारिवारिक सुख-शान्ति को समाप्त कर देती है। अत: मांसाहार के समान ही मदिरापान का निषेध भी आवश्यक है।

  शाकाहार, पृष्ठ-७

- श्रावकाचार में मांसाहार के निषेध के साथ-साथ मदिरापान का भी निषेध होता है, इसकारण भी शाकाहार के साथ श्रावकाचार शब्द जोड़ा गया है।

  शाकाहार, पृष्ठ-७

७

अयोध्या समस्या पर वार्ता

(६ दिसम्बर, १९९२ को अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाये जाने पर)

६ दिसम्बर, १९९२ को अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के बाद मन्दिर-मस्जिद विवाद के कारण सम्पूर्ण देश में उत्तेजना फैली हुई थी; देश में दंगे-फसाद हो रहे थे। तब जयपुर दूरदर्शन के स्टूडियो में डॉ. भारिल्ल, न्यायाधीश कुदाल साहब आदि गणमान्य व्यक्तियों का वार्ता कार्यक्रम रखा गया। डॉ. भारिल्ल की वार्ता के प्रमुख अंश निम्न प्रकार से हैं :-

प्रश्न - अयोध्या में राम मन्दिर एवं बाबरी मस्जिद विवाद के कारण सम्पूर्ण भारत का वातावरण अशान्त बना हुआ है। आज डॉ. भारिल्ल हमारे बीच उपस्थित हैं, आप आध्यात्मिक चिन्तक हैं। आध्यात्मिक आस्था से यह मामला जुड़ा हुआ है। आपकी इसके बारे में क्या राय है ?

डॉ. साहब - मर्यादापुरुषोत्तम महापुरुष भगवान राम भारत के रोम-रोम में समाए हुए हैं। इसलिए भारत के सबसे ज्यादा आस्था पुरुष यदि कोई हैं तो वे राम हैं। सारी दुनिया जानती है कि राम का जन्म अयोध्या में हुआ था। उनका साम्राज्य अयोध्या में था। इसलिए उनका मन्दिर अयोध्या में नहीं बनेगा तो और कहाँ बनेगा ? मन्दिर तो वहाँ बनना ही चाहिए और इतना अच्छा बनना चाहिए कि दुनिया देखती ही रह जाए।

दर असल, सवाल यह है कि राम की जो अयोध्या थी, वह कोई १००-५० मीटर की नहीं थी। जैन शास्त्रों के अनुसार तो अयोध्या १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी थी। एक योजन चार कोस का अर्थात् आठ मील का होता है। इस तरह अयोध्या ९६ मील लम्बी तथा ७२ मील चौड़ी थी। इतनी बड़ी अयोध्या में राम का जन्म कहाँ हुआ था - यह निश्चित करना सहज संभव नहीं है।

राम का मन्दिर तो अयोध्या में ही बने, सुन्दर बने तथा बहुत विशाल बने, लेकिन आज हमारी स्थिति यह है कि हम उस स्थान से एक इंच भी यहाँ से वहाँ होना नहीं चाहते, जिससे हमारे देश में बहुत बड़ी तकलीफ खड़ी हो गई है। यह हम सबके लिए अच्छी बात नहीं है। हमारे धर्मगुरुओं तथा हम जैसे लोगों को चाहिए कि अपनी जनता को समझाएँ कि राम के राज्य में राम के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी रावण के भाई के लिए भी स्थान प्राप्त था। वर्तमान में यदि राम का राज्य यहाँ होता तो क्या राम अन्य प्रकार की आस्थावाले लोगों के लिए अयोध्या में अपनी आस्था के स्थान नहीं बनाने देते ?

प्रश्न - विवाद इस बात पर अधिक लगता है कि मन्दिर बने तो कहाँ बने ? कुछ लोग ऐसी सोचवाले भी हो सकते हैं कि मन्दिर बने चाहे न बने लेकिन ··· ! इस सोच में जो विवाद की स्थिति है - आप आध्यात्मिक चिन्तक होने के नाते क्या आप यह सोचते हैं कि मन्दिर उसी स्थान पर बने, जहाँ पर आग्रह है अथवा कहीं और बने, जिससे विवाद न हो ?

डॉ. साहब - मन्दिर नहीं बनने का तो कोई सवाल ही नहीं है, मन्दिर तो बनना ही चाहिए तथा अच्छे से अच्छा बनना चाहिए, लेकिन यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इसके साथ सारे देश की आस्था और खुशियाँ जुड़ी हुई हैं। सारे देश में खून की एक बूँद भी न बहे और मन्दिर बने तो सारे विश्व में अपने देश की प्रतिष्ठा तो बढ़ेगी ही और वही राम का असली मन्दिर होगा। यदि मन्दिर खून-खराबा, दंगे-फसाद होकर बनता है तो वह राम का असली मन्दिर नहीं होगा, चाहे वह कितना भी बढ़िया और सुन्दर क्यों न बने।

मैं चाहता हूँ कि कोई इस विषय को हार या जीत का मुद्दा न बनाए। वहाँ चाहे कुछ भी बने लेकिन हम उसे कोई पक्ष हारा और दूसरा जीता - इस रूप में न देखें। प्रत्येक भारतीय नागरिक को अपनी जीत महसूस हो - ऐसा कोई समाधान हमें मिल-बैठकर निकालना चाहिए। हमारे संत, धर्मगुरु बहुत बुद्धिमान, समझदार एवं शान्तिप्रिय होते हैं। यदि वे चाहें तो मिल-बैठकर इस मुद्दे का हल निकाल सकते हैं।

प्रश्न - हम लोकतंत्र में रहते हैं। लोकतंत्र में जो अल्पसंख्यक हैं, उनका आदर होता है। उन्हें आदर देने की जिम्मेवारी बहुसंख्यकों की है। तो क्या आप सोचते हैं कि आज का बहुसंख्यक इस आदर को देने को तैयार है ?

डॉ. साहब - उसे तैयार होना चाहिए। मेरी भावना तो यह है कि ८७ करोड़ जो भारतवासी हैं, उनकी भावनाओं का मन्दिर बने, सबकी भावना उस मन्दिर में समाहित हो। उस मन्दिर के लिए जो कारसेवा हो - उसमें हिन्दू, मुस्लिम, जैन सभी धर्म के लोग हों। जैनियों के तो अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में हुआ है और उनके मन्दिर भी वहाँ हैं। अब जो मन्दिर बने, वह सभी धर्मावलंबियों का बने तथा प्रत्येक भारतीय आत्मा की प्रसन्नता का काम हो।

राम ने दुष्प्रवृत्तियों का निषेध किया था और दुष्ट रावण को जीता था, परन्तु लंकावासियों को अपने राज्य से बाहर नहीं किया, अपितु अपने साम्राज्य में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान भी दिया था। वैसा ही कार्य आज हम सब मिलकर अयोध्या में करें - मेरी यही भावना है।

आस्था का सम्बन्ध भक्ति और प्रेम से जुड़ा है, इसलिए राम के विशाल हृदय के अनुसार हम सबको साथ लेकर चलें। राम के नाम पर देश में दंगे-फसाद हों, देश अनेक भागों में बँटे - यह न तो राम के लिए और न राम के भक्तों के लिए सौभाग्य की बात होगी। सौभाग्य की बात तो यह होगी कि देश में एकता

रहे और उस एकता को हम भारतीय संस्कृति के नाम से दुनिया के सामने रख सकें।

प्रश्न - राम जन-जन के रोम-रोम में समाए हुए हैं। तो क्या वे राम किसी पत्थर की इमारत के मोहताज हैं ?

डॉ. साहब - आपका कहना सही है। जब हमारा एक मजदूर कुल्हाड़ी चलाता है, तो उसके मुँह से 'हे राम' शब्द निकलता है। राम कण-कण में व्याप्त हैं, हरेक के मन में व्याप्त हैं। फिर भी यदि यह प्रश्न खड़ा हो ही गया है तो हम उसे यह कहकर नहीं टाल सकते कि राम सबके हृदय में बसे हैं, इसलिए उनके मन्दिर की कोई जरूरत नहीं है। आखिर राम हृदयों में बसे हैं न, इसीलिए तो मन्दिर बनते हैं, हृदयों में नहीं होते तो, मन्दिर कौन बनाता।

प्रश्न - भारिल्ल साहब! राम की मर्यादा को कायम रखते हुए मन्दिर बने - यह तो सही है, लेकिन जो अल्पसंख्यक लोग हैं उनके मन में कोई भय न रहे, वे अपने को सुरक्षित समझें - इसके लिए रास्ता कैसे निकलेगा ?

डॉ. साहब - रास्ता न तो न्यायालय निकाल सकता है और न राजनैतिक लोग निकाल सकते हैं। न्यायालय तो कानून की सीमाओं में बँधा है, वह इस दृष्टि से देखेगा - ज़मीन किसकी थी? किसके नाम है? क्या बनना चाहिए? क्या करना चाहिए? वह जो निर्णय देगा, उससे सम्पूर्ण भारतीय जनमानस को संतोष हो जाएगा - इसकी कोई गारन्टी नहीं है। हो सकता है कि एक पक्ष प्रसन्न एवं दूसरा पक्ष एकदम आंदोलित हो जाए।

राजनैतिक लोग भी जो निर्णय देंगे वह उनके वोट बैंक के अनुसार होगा। एक मात्र सभी धर्मों के धर्मगुरु ही कोई रास्ता निकाल सकते हैं; क्योंकि उन्होंने अपना घर-बार छोड़कर धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ही जीवन समर्पित किया है। वे लोग अपने विशाल हृदय से सोचें और मिल-बैठकर ऐसा निर्णय निकालें

जो सबको मान्य हो, जिससे सभी को प्रसन्नता हो। निर्णय से एक पक्ष प्रसन्न एवं दूसरा नाराज हो - यह अच्छी बात नहीं है।

मुझे विश्वास है कि सभी पक्षों के धर्मगुरु मिलकर जो भी निर्णय देंगे; उसे सम्पूर्ण भारत सहज भाव से स्वीकार कर लेगा; क्योंकि जनता तो समझौता चाहती है, शान्ति चाहती है, एकता चाहती है।

यदि हमारे धर्मगुरु ऐसा रास्ता नहीं निकाल पाते तो हमें कोई दूसरा रास्ता शेष न रहने से न्यायालय की शरण में ही जाना पड़ेगा। वहाँ पर सौ-सौ वर्ष तक मुकदमे चलते हैं और कोई निर्णय नहीं निकलता। निर्णय निकले भी तो भी जनमानस को मान्य नहीं होता। निर्णय निकलने तक तो कितने दंगे-फसाद हो जाते हैं। इसलिए सही निर्णय आस्थावान सन्त-धर्मगुरु ही निकाल सकते हैं। वे सभी प्रतिज्ञा करके बैठें कि हम सभी को मान्य रास्ता निकालेंगे, जिससे किसी को कोई दु:ख नहीं पहुँचेगा। राजनैतिक लोग धर्मगुरुओं का मार्गदर्शन न करें; लेकिन धर्मगुरु विशाल हृदय को लेकर इस मामले को सुलझाएँ और वे निर्णय लेकर राजनीतिज्ञों से कहें कि हमने यह निर्णय लिया है, आप इसे लागू कीजिए। यह रास्ता ही सही है।

प्रश्न - भारिल्ल साहब! क्या आप इस बारे में कुछ कहना चाहेंगे कि दोनों पक्ष बैठकर बात करें और उन बातों को गौण करें, जो हम आपस में नहीं सुलझा सकते हैं। जो हम नहीं सुलझा सकते, उनको हम पंचों के फैसले के लिए दें और इसके पीछे कोई शर्त, कोई समयसीमा निश्चित नहीं करें। आपकी क्या राय है?

डॉ. साहब - बात अकेली मन्दिर अथवा मस्जिद की नहीं है। बात बहुत कुछ आगे की है। सवाल बुड्ढी के मरने का नहीं है, मौत घर देख गई है - समस्या यह है। उस स्थान पर मन्दिर बने या मस्जिद - इतना ही मुद्दा नहीं है। हमारे मुस्लिम भाइयों को ऐसा लगता है कि आज यहाँ हुआ, कल मथुरा में होगा, परसों बनारस में होगा। तो क्या सारी मस्जिदें मन्दिर में बदल जाएँगी? समस्या यह है। और इस समस्या के समाधान हेतु दोनों पक्षों को

निर्मल हृदय से बात करनी होगी। यदि बात अयोध्या तक ही होती तो अबतक निपट गई होती।

मैंने कल ही अखबार में पढ़ा कि - एक भाई कहता है सवाल यह नहीं है कि वहाँ मन्दिर बनेगा या नहीं? सवाल यह है कि इस देश में हिन्दू संस्कृति चलेगी अथवा अन्य? - यह जो भावना है, वह समस्या को हल नहीं होने देती। इससे जब वार्ता करने बैठेंगे तो पीछे से दबाव बनेगा कि यदि फैसला हमारे पक्ष में नहीं हुआ तो हम यह कर देंगे, हम वह कर देंगे। दोनों ओर से धमकियाँ देकर अपने अनुकूल निर्णय कराने का प्रयत्न होगा और इसलिए समयसीमा बाँधी जाएगी। वास्तव में साफ हृदय से काम हो तो काम ३ माह का भी नहीं है। यदि खुले हृदय से नहीं किया तो वर्षों तक निपटनेवाला नहीं है।

प्रश्न - भारतीय संस्कृति तो हमेशा प्रेम और सहयोग की रही है। उस परम्परा में ये टकराव की स्थितियाँ कैसे आ गईं और समस्या उत्पन्न हो गई?

डॉ. साहब - यह बात ऐसी है कि समझौते कुछ लेकर और कुछ देकर होते हैं; लेकिन समझौते में जो अधिक त्याग करेगा वह महान होगा, जो ज्यादा लेने का प्रयत्न करेगा वह महान सिद्ध नहीं होगा। जहाँ तक भारतीय जनता का सवाल है, वह यह नहीं जानना चाहती कि तुमने क्या दिया और क्या लिया? वह तो समझौता होने पर शांति की साँस लेगी। उसे समझौते में ही प्रसन्नता होगी।

भारतीय जनता को समझाया जाए कि मन्दिर बहुत सुन्दर और विशाल बनेगा पर थोड़ा-सा ५० कदम हटकर बनेगा। इससे भारतीय मानस एकदम आन्दोलित होनेवाला नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि बात समझाई जा सकती है। ऐसे ही मुस्लिम भाइयों को भी समझाया जा सकता है। इसमें सवाल उदारता का है, जो उदारता दिखाएगा, वह महान सिद्ध होगा। हमारा देश दान के लिए प्रसिद्ध है, वह हमेशा अपना सर्वस्व देने को तैयार रहता है। जिसे महान बनना है, उसे लेने से ज्यादा देने पर बल देना पड़ेगा।

यही एकमात्र रास्ता है। •